आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि

भवानीप्रसाद मिश्र

... द्वारा सम्पादित जीवनी और संकलन

'गीतफ़रोश के नाम से प्रसिद्ध भवानी-प्रसाद मिश्र हिन्दी के कवियों में इसलिए अग्रिम पंक्ति में आए कि वह 'बोली' में लिखने वाले एक अकेले कवि हैं—लोकप्रिय कवि हैं। उनको समझने के लिए 'भाषा' और 'बोली' में अंतर समझना ज़रूरी है। भवानी भाई का कथन है कि मैं बोली में लिखता हूं। बोलचाल हिन्दी की मेरी ताकत है।

व्यंग्य की सहज सम्पन्नता के बावजूद भवानी भाई की कविता सरल नहीं है, पारदर्शी है; उसमें अर्थ-गांभीर्य्य है। वह जो लिखते हैं वह कवि, कविता और पाठक के बीच सहज आत्मीयता स्थापित कर लेता है।

भवानीप्रसाद मिश्र का जन्म २९ मार्च १९१३ को मध्यप्रदेश के टिगरिया गांव में हुआ जो होशंगाबाद ज़िले में है। उनकी कविता-यात्रा मुख्यतः १९४४ से आरंभ होती है। यों १९४० में 'दूसरे सप्तक' के साथ वे हिन्दी के जाने-माने कवियों की पंक्ति में आगे आ गए थे। गांधीवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक इस कवि की आपातस्थिति में लिखी गई कविताएं 'त्रिकाल संध्या' के नाम से प्रकाशित हुई हैं।

प्रस्तुत प्रतिनिधि संकलन में भवानी भाई के समृद्ध कृतित्व में से ऐसी कविताएं चुनी गई हैं जो समकालीन समाज और विचारधारा का समग्र चित्र प्रस्तुत करती हैं।
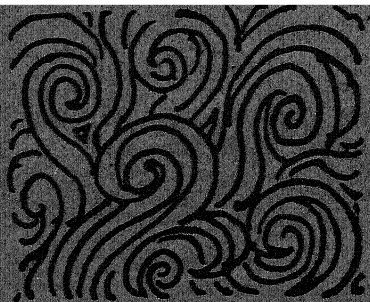
भवानीप्रसाद मिश्र

सं० विजयबहादुर सिंह

आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि—15

भवानीप्रसाद मिश्र

डॉ० विजयबहादुर सिंह

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भवानीप्रसाद मिश्र और उनकी कविता

जीवन-वृत्त

प्रिय भाई विजयबहादुरसिंह,

इस चिट्ठी में तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूं। पहला प्रश्न जन्म सम्वत्, समय, दिन और स्थान का है। मेरे पास मेरी जन्म कुण्डली थी, उसके सहारे समय आदि बताया जा सकता था, किन्तु वह मैंने नर्मदा में विसर्जित कर दी थी, इसलिए केवल जन्म-तिथि २९ मार्च १९१३, गांव टिगरिया, तहसील सिवनी—मालवा, जिला होशंगाबाद (म०प्र०) से काम चलाइए। दूसरी बात आपने मेरे कुल और निवास के बारे में पूछी है। मेरे पितामह बुन्देलखंड के हमीरपुर नामक कस्बे से मध्य प्रदेश में आ गए थे। उनकी जीविका मन्दिर में पूजा करके चलती थी, उनके पांच बेटे थे, बेटी एक भी नहीं। मेरे पिता पं० सीताराम जी सबसे छोटे भाई थे। वे और उनसे बड़े दो भाइयों ने अंग्रेजी शिक्षा पाई, बाकी के तीनों बड़े भाइयों को मेरे पितामह ने संस्कृत का ही अभ्यास कराया। बाद के दो भाइयों का संस्कृत में वैसा प्रवेश न देखकर पितामह ने उन्हें होशंगाबाद में रखकर अंग्रेज़ी पढ़ाई। दोनों ने मेट्रीकूलेशन किया और सरकारी नौकर हो गए। पहले तीन भाई पैतृक गांव में ही पूजा, अर्चा और कथा-वाचन आदि से अपनी जीविका उपार्जित करते रहे। मुझे मेरे पितामह का कोई ध्यान नहीं आता। सुना ज़रूर है कि वे बड़े नैष्ठिक ब्राह्मण थे, धर्मभीरु थे और परोपकार उनके स्वभाव का अंग था। पिता जी के सबसे बड़े भाई वेणी-

माधव जी युवावस्था में ही पत्नी की मृत्यु हो जाने के बाद विरक्त हो गए थे। उनके एक पुत्र और एक कन्या थी जिनका पालन-पोषण सम्मिलित कुटुम्ब से होता रहा। वेणीमाधव जी ऊंचे पूरे इकहरे शरीर के एक सुन्दर व्यक्ति थे। परिव्राजक थे, यथासम्भव दो दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं रुकते थे, और जहां तक बनता था, वाहनों से यात्रा करना बचाते थे, बैलगाड़ी, घोड़े, तांगे पर वे कभी नहीं बैठे। बहुत ज़रूरत पड़ने पर अनिवार्य हो गया तो रेल की यात्रा की। वे जीवन-भर नीरोग रहे और नव्बे वर्ष की अवस्था में ही एक दिन की बीमारी के बाद शरीर छोड़ दिया। मंझले दादा पं० राजाराम तो संस्कृत के विद्वान ही थे और आस-पास के गांवों में उनका बड़ा आदर था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनका मुझ पर कुछ विशेष प्रेम था और वे चाहते थे कि मैं पिता जी के साथ न रहकर उनके साथ रहूं और संस्कृत का अभ्यास करके उनकी परम्परा को निभाऊं। प्राइमरी पास करने के बाद इस विचार से सहमत होकर पिताजी ने मुझे उनके पास भेज दिया था। किन्तु कुछ ही महीने के बाद मैं किसी कारण से पिताजी के पास गया और फिर वापस नहीं भेजा गया। मैंने भी अपने आस-पास के बच्चों की तरह अंग्रेज़ी स्कूल में प्रवेश ले लिया और क्रमशः सोहागपुर, होशंगाबाद, नरसिंहपुर और जबलपुर में पढ़ते रहकर जितना पढ़ना मुझे ज़रूरी लगता था, मैंने पूरा किया। सन् १९३४ या ३५ में मैंने बी०ए० पास कर लिया था और इतना पढ़कर मेरे मन पर छाप यही पड़ी थी कि और ज़्यादा पढ़ना अनावश्यक है। मैं एम०ए० भी पास करूं, ऐसी कई लोगों की इच्छा थी, किन्तु जाने क्यों मुझे भय था कि एम० ए० पास करके मैं सरकारी नौकर हो जाऊंगा, सरकारी नौकरी की अप्रतिष्ठा स्वयं मेरे पिता जो सरकारी नौकर थे, मेरे मन पर स्पष्ट करते रहे थे। वे चाहते थे कि मैं कोई उपयोगी काम करूं, पैसे की ओर दृष्टि न रखूं और चूंकि कालेज में मैंने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी तीन विषय लेकर बी०ए० किया था, उनका यही विचार बना कि मुझे एकाध छोटा स्कूल खोलकर बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए और प्रचलित शिक्षा में प्राचीन शिक्षण के वे तत्व भी मिलाने चाहिए जिनके बिना सामाजिक जीवन में मूल्यों की अवनति दृष्टिगोचर हो रही थी।

मैं अपने बचपन के बारे में सोचता हूं तो ज़्यादातर ख्याल आस-पास के लोगों का नहीं आता, बल्कि आस-पास के पशुओं का आता है। जैसे हमारे घर में घोड़ा सदा रहा। पिताजी घोड़े की सवारी में निष्णात् थे। सदा दो सवारियां रखते, एक घोड़ा और एक जोड़ी बैल—बैलगाड़ी के लिए। वे शिक्षा विभाग में निरीक्षक थे और दौरा अपनी ही सवारी से करते थे। मौसम अच्छा हो तो दौरा घोड़े पर होता था और सर्दी-गर्मी ज़्यादा हो तो बैलगाड़ी से। वर्षा के दिनों में तो घोड़ा ही एकमात्र सहारा था क्योंकि उन्हें निरीक्षण के लिए ज़्यादातर गांवों में जाना पड़ता था। रास्ते कच्चे होते थे और उन दिनों मध्यप्रदेश के जंगल पर्याप्त घने भी थे, जैसे कुरूप और विरले आज हो गए हैं, तब वे वैसे नहीं थे। बिलकुल बचपन में पिताजी के पास घोड़ी थी, उसका नाम चम्पी था। एक रंग सफेद, खासी ऊंची और लम्बी घोड़ी। स्वस्थ पिताजी उस पर बैठकर निकलते तो राह-गीर रुक कर देखता था। मुझे याद है कि चम्पी के कदम की चर्चा घोड़े के शौकीन लोग करते ही थे। आस-पास के शादी-विवाहों में भी दूल्हे की सवारी या उससे भी बढ़कर कभी-कभी नाचने के लिए चम्पी की पूछ हुआ करती थी। भागने में तेज और स्वभाव से शान्त। इस घोड़ी पर पिताजी को प्यार था। वे खुद अपने हाथ से उसे खरखरा करते और दाना-पानी खिलाते-पिलाते थे। हमारे घर में गायें भी थीं, घुड़साल और गाय-बैलों की सार साफ करने का काम मां का था। हम बच्चे उसमें उसके मददगार बनते थे। गायों का दुहना, बांधना, छोड़ना, कभी-कभी नहलाना-धुलाना हम सभी भाई-बहन खूबी के साथ कर लेते थे। घोड़ों में चम्पी, मंगल, भौंरा और रोहिणी चार विशेष बारी-बारी से हमारे घर में आए और मृत्यु-पर्यन्त घर में रहे। बैल ज़रूर तबादला होने पर बेच दिए जाते थे। किन्तु गायें कभी बेची नहीं गईं। जहां तबादला हो जाता था, वहां रेल के डिब्बे में उस वक्त जो घोड़ा या घोड़ी और गायें होती थीं, दूसरी जगह भेजी जाती थीं, और प्रायः ऐसा होता था कि यात्रा में उनकी देखरेख के लिए एक आदमी के सिवाय मुझे साथ भेजते थे। पशुओं के आत्मीय भाव के कारण मैंने उनकी लीलाभूमि अर्थात् प्रकृति को भी बचपन से ही उसके वत्सल रूप में देखा। हरे-भरे खुले मैदान, जंगल या पहाड़, झरने और

नदियां इन्हीं के तुफैल से मेरे बने। कई बार तो मैं स्कूल चुका कर गायें चराने निकल जाता था। मेरे दो-चार साथी भी ऐसे थे जो मेरा साथ देते थे। उनमें से दो-एक तैरने और वृक्ष पर चढ़ने में बहुत कुशल थे। मेरे मन में उनकी बराबरी करने की इच्छा तो होती थी, किन्तु न मैं कभी खूबी के साथ वृक्ष पर चढ़ पाया और न मुझे कभी अच्छा तैरना ही आया। अच्छे से मतलब दूरी से है। मैं थोड़ी दूर तक खूब साफ और खूबसूरती के साथ तैर लेता हूं, किन्तु लम्बे तैरने का अभ्यास नहीं हो पाया। एकाध बार इस कमज़ोरी को दोस्त न जानें, इसलिए उनके साथ नर्मदा में लम्बा निकल गया और बचाने का भार उनके ऊपर आया। मेरे बड़े भाई साहब बहुत अच्छा तैरते हैं, एक बार तो उन्होंने मुझे बचाया। बचपन की रुचियां कुछ खास नहीं थीं। उन दिनों खेलों में गुल्ली-डण्डा, चकरी और भौंरा यही मुख्य थे। गुल्ली-डण्डा मैं ठीक खेलता था। चकरी और भौंरा भी खेलता था किन्तु उसमें सफाई नहीं सधी थी। गोली खेलने का चलन भी था, उसमें भी मैंने कभी ऐसी कुशलता प्राप्त नहीं की कि चस्का लग जाता। वर्षान्त में गेड़ी पर चढ़ना और दूर-दूर तक कीचड़ में घूमकर आना एक शौक था। स्कूल में होने वाले खेलों में दिलचस्पी नहीं ली। फुटबाल में तो थोड़ा-बहुत दौड़ लेता था। हाकी में सन्नाती हुई गेंद से बहुत डर लगता था और डण्डे से भी। बचपन से ही पिताजी के व्यायामशील होने के कारण अखाड़ों में जाने लगा था और कुश्ती का ठीक अभ्यास था। नागपंचमी पर खुले मैदान में प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से भी उतर जाता था। कुश्ती लड़ कर लज्जित होने की याद नहीं आती। हमारे ज़माने में बच्चों की रुचियों को माता-पिता आज की तरह से बारीकी से देखभाल कर बढ़ावा नहीं देते थे। आजकल तो कुरुचियों को भी बढ़ावा देने का चलन है। हम लोगों पर तो माता-पिता इतना ही ध्यान देते थे कि हमने ठीक घी-दूध-दही खा लिया है या नहीं और हम आवश्यकता से अधिक घर के बाहर तो नहीं रहते। काम से तो हम लोग ही प्रायः बाहर भेजे जाते थे। घर में नौकर या नौकरानियां नहीं थीं, जानवरों के लिए घास-दाना खरीदना, घर के लिए साग-सब्ज़ी और ऐसे ही छोटे-मोटे सौदे ले आना हम लोगों को इसी-लिए सध गया था। पिता जी ने मोल-भाव करने के कुछ 'गुर' भी बता

दिए थे। जिनमें से एक यह था कि जो कुछ दाम बताए जाएं, उनसे आधे में मांगो। यह गुर प्राय: काम दे जाता था, एकाध बार कुछ बढ़ाना पड़े नहीं तो सफलता मिल जाती थी। पहली बार के सौदे की याद है। पिता जी बैलगाड़ी में दौरे पर गए और घोड़ा घर छोड़ गए। मैं तब तीसरी हिन्दी में पढ़ता था, घास खरीदने का काम मुझे सौंपा गया। घास अर्थात् हरी दूब। गुर वही कि घास वाली जो कुछ बताए उससे आधे से मांगो बात सुहागपुर की है। नदी के पुल के किनारे घास का बाज़ार भरता था। मैं स्कूल से छूटकर शाम को सीधा वहीं चला गया और हरी घास के एक बड़े गट्ठर को देखकर उसका दाम पूछा। घास वाली ने कहा पांच आना। मैंने मन में उसके आधे करके कहा कि ढाई आने देंगे। वह ढाई आने का अर्थ नहीं समझी और 'ना' कह दिया। बगल की घास वाली ने उसे समझाया, अरी पगली दस पैसा, दस पैसा। उन दिनों आने में चार पैसे होते थे, इस हिसाब से ढाई आने के दस पैसे हुए, मुझे दस पैसा कहना नहीं सूझा और वह ढाई आने का मतलब नहीं समझी। लेकिन जब दूसरी ने उसका मतलब बताया तो वह एकदम तैयार हो गई और मैं ठगा नहीं गया, उसे उसके पूरे दाम मिल गए। साग-सब्ज़ी और कपड़े पर तो अभी तक यह नियम लागू करके देखता हूं और प्राय: सफलता मिलती है। यों अब पहले से दाम बहुत ज़्यादा बढ़ गए हैं। मैंने जो लिखा है यह फेरीवालों पर खास तौर से लागू हो जाता है।

प्राइमरी शिक्षा सुहागपुर में और हाई स्कूल की शिक्षा होशंगाबाद और नरसिंहपुर में पूरी हुई। हाईस्कूल के आखिरी साल में मुझे होशंगाबाद से नरसिंहपुर जाना पड़ा, क्योंकि होशंगाबाद के हेडमास्टर साहब ने मेरे पिताजी को जो उन दिनों नरसिंहपुर में थे लिखा कि आप भवानीप्रसाद को अपने पास रखिए, यह आन्दोलनों में दिलचस्पी लेता है, जो ठीक नहीं है। उन दिनों असहयोग आन्दोलन का सिलसिला जारी था। पिता जी ने मुझे नरसिंहपुर बुलवा लिया और यह भी बताया कि हेडमास्टर साहब का ऐसा ख्याल है। मैंने इस ख्याल का विरोध नहीं किया और उन्हें बता दिया कि मुझे प्रभातफेरी आदि में जाना अच्छा लगता है। पिताजी ने मुझे अभयदान दिया कि मैं जाता रह सकता हूं। सरकारी नौकर होते हुए

भी उन दिनों ऐसी इजाजत दे देना और सो भी सहजभाव से पिता जी के मन को जाहिर करता है। सहपाठियों में से आन्दोलन में दिलचस्पी लेने वाले वहुत कम थे। वे सब मेरे खेलकूद और ऊधम के साथी थे। मुझे कालेज से निकलते-निकलते तक लड़ने-झगड़ने में भी काफी मजा आता था। स्वभाव आज भी क्रोधी है। इस पर बड़ी धीरज के साथ काबू पाया है। मेरे ज़्यादा-तर साथी हंसोड़ और लट्ठमार किस्म के थे। हाईस्कूल में भी और कालेज में भी। संख्या इतनी ज़्यादा रही कि नाम गिनना पक्षपात करना है। सब मुझे समान रूप से चाहते थे और शायद मैं भी समान रूप से सबको। किन्तु धीरे-धीरे जीवन के प्रवाह में हम लोग दूर-दूर जा पड़े। कुछ का साथ और हाथ अभी तक नहीं छूटा है। वे सब भी अपने मौलिक स्वभाव से काफी दूर हो गए हैं। जिनसे अभी तक जुड़ा हुआ हूं उनके नाम हैं—महेशदत्त मिश्र, भवानीप्रसाद तिवारी, रामचरण पाठक, छगनलाल पटेल, मोहन-लाल बाजपेयी, आनन्दीलाल तिवारी, गौरीशंकर लहरी। ये सब पुराने दोस्त हैं। दोस्तों के मामले में मेरे बराबर भाग्यवान व्यक्ति कदाचित् ही मिले। नई पीढ़ी में भी कितने लोग हैं जो मुझे उम्र भूलकर स्नेह देते रहते हैं। इन सब लोगों का साथ कविता के कारण हुआ। मैं कविता लिखता चला जाऊंगा इसका आभास तो मुझे किशोरावस्था में ही हो गया था। किन्तु साहित्यकारों से मिलना-जुलना बहुत बाद में शुरू हुआ। १९४७ तक तो मैं एक या दो बार प्रान्त के बाहर निकल पाया होऊंगा। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर, प्रेमचन्द और निराला, प्रसाद इनके मैंने दर्शन ही नहीं किए। इस संयोग को क्या कहा जाए? प्रयत्नपूर्वक लोगों से मिलना-जुलना स्वभाव में नहीं रहा—यह इसका एक कारण हो सकता है। संयोगवश जिनसे मुलाकात हो गई, उनसे घनिष्ठता भी होती चली गई। सम्बन्ध जो भी बने साहित्यिक कम, पारिवारिक अधिक बने। होने को अधिकांश मित्र साहित्य के मर्मज्ञ हैं किन्तु इनसे बात साहित्य की कम साहित्येतर ज़्यादा होती है। राजनीतिज्ञों में भी जो मित्र हैं वे भी साहित्य मर्मज्ञ होने के नाते ही सम्पर्क में आए। मैं राजनीति के क्षेत्र में अंग्रेज़ सरकार से लड़ाई के दिनों तक ही रहा। स्वतन्त्रता पाने की हद तक हाथ बंटाना मेरी विवशता थी। उसके बाद राजनीतिज्ञों पर निगाह जरूर रखता रहा और

उनके काम मुझे तकलीफ देते रहे, उन्हें गलत कामों से विरत भी नहीं कर पाया, अनेक तो इनमें से मित्र ही थे। अनेक राजनीतिज्ञ मित्र गलत राजनीति के खिलाफ लड़ते रहे, मैं उसमें भी नहीं पड़ा, लेकिन लिखने के माध्यम से जो कर सकता था, किया। मैंने माना कि कविता लिखना और राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय रूप से लड़ते रहना, साथ-साथ नहीं चल सकता। राजनीति का क्षेत्र गांधी जी की राजनीति की तरह त्याग, और साफ-सुथरेपन का क्षेत्र होता तो कविता वहां भी निखर सकती थी, किन्तु जब भारत की राजनीति भी संसार की राजनीति की तरह ही बनी रही तो मैं उसे अपना क्षेत्र कैसे मानता?

मैंने इसीलिए जीवन गांधी जी के विचारों के अनुसार शिक्षा देने के विचार से एक स्कूल खोलकर शुरू किया और उस स्कूल को चलाता हुआ ही सन् ४२ में गिरफ्तार होकर ४५ में छूटा। उसी वर्ष महिलाश्रम वर्धा में शिक्षक की तरह चला गया और चार-पांच साल वर्धा में बिताए। गांधी जी तो मेरे वर्धा जाने के कुछ समय बाद भारत के विभाजन से उत्पन्न परिस्थिति को सम्हालने के लिए वर्धा छोड़कर निकल गए थे। उनका सम्पर्क लगभग नहीं के बराबर रहा। अप्रत्यक्ष रूप से वे आज तक मेरे साथ हैं। प्रारम्भ की कुछ कविताएं मेरे विकास की दिशा तो सूचित करती हैं। गांधी पंचशती में संग्रहीत सहसा नामक पहली कविता और उसके बाद की तीन-चार कविताएं इसका प्रमाण हैं। इन दिनों तक मैं हाईस्कूल में ही था। ठीक पहली कविता कौनसी थी यह कहना कठिन है और यदि किसी एक कविता को पहली मान लूं तो उससे कोई बात नहीं बनती।

आपने पूछा है कि मैं किन-किन कवियों से प्रभावित रहा तो कह सकता हूं कि सबसे अधिक तो बचपन में सुने हुए पिता जी द्वारा किए गए संस्कृत ग्रन्थों के सस्वर पाठ छन्द देने में सहायक हुए। पिता जी को भी कविता पढ़ने का चाव था। वे नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पुराने कवियों की रचनाएं और संग्रह आदि मंगाते रहते थे। सबसे पहले काव्य-ग्रन्थों में जयद्रथ वध, भारत भारती, रायदेवी प्रसाद पूर्ण का पूर्ण संग्रह और लाला भगवान दीन का वीर पंचरत्न प्रमुख हैं। ये सब मुझे बहुत अच्छे

लगते थे और इनके बहुत से अंश मुझे याद भी हो गए थे, जिन्हें मैं जहां-तहां अवसर आने पर सुनाता भी था। मंच पर से कविता पाठ करने की धड़क इस प्रकार किशोरावस्था से पहले ही खुल चुकी थी। प्रायः धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक सभाओं में मुझसे इन कंठस्थ अंशों में से कुछ पढ़ने के लिए कहा जाता और मैं कुछ पढ़कर सुनाता था।

कविताएं लिखना लगभग सन् ३० से नियमित प्रारम्भ हो गया था और कुछ कविताएं पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के सम्पादकत्व में निकलने वाले हिन्दूपंच (कलकत्ता) में हाई स्कूल पास होने के पहले प्रकाशित हो चुकी थीं। हिन्दी लिपि (देवनागरी लिपि) में कलकत्ता से ही ज्वाला दत्त शर्मा ने कुछ प्रसिद्ध उर्दू कवियों की कविताओं के संग्रह अच्छी भूमिकाएं देकर प्रकाशित करवाए थे। दाग़, मीर, जौक, मीर अनीस, सौदा और ग़ालिब की चुनी हुई रचनाएं इनके माध्यम से पढ़ने को मिलीं और इनमें से मुझे बहुत कुछ कंठस्थ हो गया। लिखने पर अनायास ही उर्दू की बोल-चाल पूर्ण शैली मेरी रचनाओं में और भी निश्चिन्तभाव से आने लगी। मेरे आदर्श कवि एक नहीं अनेक हैं। जिनमें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, मराठी और बंगला के नये-पुराने अनेक नाम शामिल हो जाते हैं। हिन्दी में तुलसी कबीर सर्वाधिक प्रिय रहे, खड़ी बोली में थोड़ा बहुत असर सबका हुआ, क्योंकि श्रम सबको पड़ता था। मगर मेरे दुर्भाग्य से आदर्श के रूप में कोई मेरे सामने नहीं रहा। संस्कृत के कवियों में भी सबसे अच्छे मुझे तुलसी दास के वे श्लोक लगे जो रामायण में हैं। यह कहना कठिन है कि मैंने संस्कृत के कवियों को गहराई के साथ पढ़ा, लेकिन फिर भी मैंने जितना पढ़ा उसमें कालिदास ने सर्वाधिक आनन्द दिया। बंगला तो मैंने रवीन्द्रनाथ को पढ़ने के लिए ही सीखी। मराठी में ज्ञानेश्वरी और तुकाराम के अभंग मैंने परिश्रम के साथ पढ़े। इतने बड़े-बड़े कवियों का असर तो होकर रहना ही था, चाहे जितनी परतों में से छनकर क्यों न आया हो। मैं बहुत दिनों तक प्रकाशन के प्रति सचेष्ट नहीं रहा। पू० पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी से सन् १९३२-३३ में परिचय हुआ और वे कभी-कभी आग्रहपूर्वक कर्मवीर में मेरी कविताएं प्रकाशित करते रहे। फिर भाई प्रभातचन्द्र शर्मा ने कलकत्ता से, श्री हेमचन्द जोशी के साथ एक पत्र निकाला था उसमें और बाद में

स्वयं उनके पत्र आगामी कल में मेरी रचनाएं प्रकाशित हुईं । अज्ञेय जी आगामी कल में मेरी रचनाएं पढ़कर उसकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने मुझे पहला सप्तक में लेना चाहा। किन्तु तब मैं जेल में बन्द था, इसलिए रचनाएं उनके पास भेजी नहीं जा सकती थीं। सन् ४५ में कारा-वास से मुक्ति मिली तब श्री अमृतराय से परिचय हुआ क्योंकि वे जबलपुर में हमारे आत्मीय हो चुके थे। उनसे परिचय होने के बाद हंस में काफी कविताएं छपीं और फिर अज्ञेय जी ने दूसरे सप्तक के लिए कविताएं मांगीं। दूसरे सप्तक के प्रकाशन के बाद प्रकाशन कम-ज़्यादा नियमित होता रहा। संग्रह गीत-फरोश १९५३ में आया और फिर बहुत दिनों तक मैंने परवाह नहीं की। बीमार होने के बाद कविताएं पड़ी न रह जाएं, ऐसा ख्याल, उपजा और तब से साल में एक संग्रह दे देता हूं।

मेरा जीवन बहुत खुला-खुला बीता है। किसी बात की तंगी मैंने महसूस नहीं की। मेरे प्रति माता-पिता और परिवार के सिवाय सभी लोग उदार रहे। एक तो मेरी इच्छाएं ही बहुत कम हैं, जो हैं, वे बराबर पूरी होती रहीं। थोड़े में आनन्द के साथ जीना दरिद्र ब्राह्मण परिवार से विरासत मिला। इसलिए ज़्यादा पढ़-लिखकर पैसा कमाने की इच्छा भी मन में नहीं जागी। एक छोटा-सा स्कूल चलाकर आजीविका प्रारम्भ की और जब वह स्कूल सरकार ने छीन लिया तो उसकी छाया में चला गया जो दुनिया के लिए छाया सिद्ध हुआ है। चार साल स्नेह और मुक्ति से भरे वर्धा के वातावरण में रहा। आश्रम के बाद कुछ समय तक राष्ट्रभाषा प्रचार सभा का काम भी किया। इसके बाद एक वर्ष तक आकाश वृत्ति के आनन्द लिए। वहां से एक कवि सम्मेलन में हैदराबाद गया और बद्री विशाल जी में इतना स्नेह दिया कि तीन साल हैदराबाद में काट दिए। जब हैदराबाद से उखड़ा तो चित्रपट के संवाद लिखे और मद्रास के ए० बी० एम० में संवाद निर्देशन भी किए। मद्रास से बम्बई आकाशवाणी का प्रोड्-यूसर होकर चला गया। वहां से आकाशवाणी केन्द्र दिल्ली पर आया। बम्बई के मुकाबले में यहां काम बहुत थोड़ा लगा, इसलिए सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय से चला गया और उस काम को लगभग अंज़ाम देकर अब गांधी शान्ति प्रतिष्ठान में हूं। काम जितने किए सब मन के किए और मन से

किए। जिन कामों का स्वभाव थोड़ा-बहुत विपरीत था, उन्हें भी अपने सांचे में ढाला, उनके सांचे में मैं नहीं ढला। इसे उन काम कराने वालों की भी खूबी माननी चाहिए कि वे मुझे बहुत हद तक मुक्त रखते थे।

जीविका के सिलसिले में इस प्रकार घूमना भी काफी हुआ। कवि सम्मेलनों की पुकार पर भी दूर-दूर तक आया-गया। किन्तु बड़े-से-बड़े शहर में रहकर भी शहर से असम्पृक्त रहा। शहर अर्थात् शहर के जीवन से। जैसे सिनेमा के संवाद लिखकर और संवाद निर्देशन करके भी चित्र लगभग नहीं देखे हैं। पिछले बीस सालों में तो कोई दो चित्र देखे होंगे। काफी हाउस या बड़े-बड़े होटल साहित्यिकों के जीवन में बड़ा स्थान रखते हैं। मेरे जीवन में इनका स्थान शून्य है। दिल्ली के काफी हाउस में दो बार गया हूं। एक बार जब महेश भाई वहां मिलेंगे, इसका पता जब लगा तब, और एक बार जैनेन्द्र जी के साथ गपशप में। शहरों के आस-पास की प्रकृति और शहरों में बसे हुए लोग मेरे आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। उनके माध्यम से मैं अपनी कस्बाई और ग्रामीण प्रकृति को जगाए रखता हूं।

सन् ३३ तक मिल का बना कपड़ा पहनता था। उसके बाद खादी पहनने लगा। खादी पहनने के निमित्त भाई भवानीप्रसाद तिवारी को कहना चाहिए। जबलपुर में जब उनसे अधिक मिलना-जुलना शुरू हुआ तो अधिकांश ऐसे ही साथी मिले जो खादी पहनते थे। हंसों के बीच में बक की परिस्थिति अनायास ही कहीं खल उठी होगी। वर्धा जाने के बाद तो मेरा सारा परिवार ही खादी पहनने लगा था। बच्चों और पत्नी ने वर्षों नियमित रूप से खादी पहनी। वह धीरे-धीरे कम हो गई। छूटी पूरी तरह अब तक नहीं है। मैं कुछ और पहनने से रहा। खादी की आर्थिक दृष्टि मुझे खरी लगती है। जो काते सो पहने वाली बात बिलकुल ठीक है। मगर अब कात नहीं पाता हूं। एक समय तो मेरे कातने की गति और प्रकार, दोनों उत्तम थे। माध्यम तो अभी भी है। खादी के प्रति मेरी दृष्टि स्नेह-बन्धन की है। मैं उसके साथ बुद्धि और भावना दोनों से बंधा हूं। मैं खादी को राष्ट्रीयता का प्रतीक नहीं मानता, मानवीयता का प्रतीक मानता हूं। जिस तरह गांधी राष्ट्रीय नेता नहीं थे, समस्त मानव जाति प्रत्येक क्षण उनकी आंखों के आगे रहती थी, उसी प्रकार उनके विकेन्द्रीयकरण से

सम्बन्धित कार्यक्रमों की तफसीलें भी केन्द्र से परिधि तक जाती हैं। वे आत्मकेन्द्रित होकर भी सार्वभौम हैं। राष्ट्रीयता, कवि और गांधी विचार से सम्बन्धित कविता का भी यही अन्तर है। मैंने अगर कहीं हिन्दुस्तान के लिए लिखा है तो वह विश्व के किसी अंश के विरोध में कदापि नहीं जा सकता।

शब्द अपने आप और अपने परिवेश को बदलने के सशक्त माध्यम हैं। मेरा परिवेश मेरे शब्दों से बदला है या नहीं इसे देखना आसान है। लगभग नहीं बदला। मैं बदला हूं या नहीं, इसे देखना या दिखाना कठिन है। लेकिन मैंने अनुभव किया है कि मेरे लिखने ही ने मुझे सचेत रखा है और मैंने ऐसा करने से सदा पनाह मांगी है जो मेरे लिखते हुए शब्दों के प्रतिकूल जाता हो। अशरण शरण ने मुझे ऐसी पनाह दी ही है।

तुम्हारा
—भवानीप्रसाद मिश्र

वाणी के गौरव का कवि

कविता की भाषा अक्सर व्याकरणपरस्ती का विरोध करती आई है। उसके जड़ चौखटों में बंधते हो। वह अर्ध-दुर्बल और लोकगामी हो जाती है। उसके ध्वनि-संकेत और पद-विन्यास इतने नियमित और रूढ़ हो जाते हैं कि आने वाली प्रतिभाओं को नये सिरे से अपना साज-सामान सम्हालना पड़ता है। भवानी भाई जब इस ओर आए समस्याएं कई थीं। केवल लिखने और बोलने की भाषा ही अलग नहीं थी लिखने और लिखने की भाषा ही अलग थी। यह प्रसाद और प्रेमचन्द को आमने-सामने करके देखा जा सकता है। एक वह भाषा थी जिसे हम कोरी साहित्यिक कह सकते हैं और दूसरी वह जो लोक जीवन से जुड़ी हुई थी। उसका व्याकरण किताबों में बंद न था बल्कि जनता द्वारा अनुशासित और नियंत्रित था।

भवानी मिश्र ने इसी भानक रूप को अपनी कविता के लिए चुना :

'जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख'

यह करके ही वे उस जनता से अपनी बातचीत जारी रख सकते थे जो उन दिनों आज से कहीं ज़्यादा भाव प्रवण और ज़िम्मेदार थी। सच तो यह है कि कवि भवानी मिश्र और सुराजी भवानी भाई में शुरू से ही एका रहा है। प्रभात फेरियों, जेलों और जनान्दोलनों के बीच उनकी कविता सहधर्मिणी परिणीता की तरह उनके साथ होती थी और वहां से लौटकर जब वह खुद को नये सिरे से तरतीब देती थी—वे सारे प्रसंग उसे घेरे रहते थे। इसलिए उनका लिखना पाठकों के लिए उतना नहीं रहा जितना कि श्रोताओं के लिए। कवि की यह आकांक्षा नहीं थी कि उसका लिखा हुआ सिर्फ कागज़ के पन्नों पर रह जाए। कविता को पठनीय बनाने की कोशिश से वे कोसों दूर थे। आज भी उनकी यह आदत पूरी तरह से गई नहीं है—"मैं जो लिखता हूं उसे जब बोलकर देखता हूं और बोली उसमें बजती नहीं है तो मैं पंक्तियों को हिलाता-डुलाता हूं। बोलचाल हिन्दी की मेरी ताकत है।" इसीलिए भवानी भाई की कविता भाषा उतनी नहीं है जितनी कि वह 'बोली' है।

भाषा और बोली के इस फर्क को समझना ही भवानी भाई के काव्य-रहस्य को जान लेना है। पण्डित और समीक्षक—शिरोमणि के लिए यह परेशानी का कारण है क्योंकि कवि को नयी सृजनात्मकता उनकी चिकनी सुघड़ काव्य रुचि का पोषण नहीं कर पाती। बंधे-बंधाए आस्वाद से अलग वह कुछ भिन्न और स्वतंत्र दिखती है। भवानी भाई की कविता तो इससे भी चार कदम आगे है—

अभी बैन
अभी बान
अभी बानों के सिलसिले

'कविता आवेग त्वरित काल यात्री है'—वह एक जगह बंधकर कैसे रह लेगी। और भाषा जो बंधकर ही सुहागवती होती है, कैसे जीवित और

कर्मठ स्थितियों और चरित्रों के साथ न्याय कर पाएगी। यह ताकत तो सिर्फ बोली में है। इन दिनों जबकि कविता यथार्थ और आधुनिकता की दुहरी जटिलता में अभिमन्यु बनी हुई है, कवि-कर्म काफी पेचीदा और संगीन लगने लगा है। कविता से होकर गुज़रना आग की लपटों और विकराल तूफानी लहरों से होकर गुज़रना है। वैसे ही जब कोई कवि हमें सहज दिखने लगे, तब वह झूठ भी लग सकता है। और झूठ होता भी अगर यह सहजता व्यंग्य-सम्पन्न न होती। भवानी भाई की एक कविता है 'जाहिल बाने'। कवि समकालीन सभ्यता पर व्यंग्य कस रहा है—

मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पाँवों चलता हूँ
और
आप सभ्य हैं क्योंकि हवा में उड़ जाते हैं ऊपर
आप सभ्य हैं क्योंकि आग बरसा देते हैं भू पर

यही नहीं— गीत फरोश जैसी कविताओं में भी व्यंग्य ही उसकी धार है। वही विडम्बनापूर्ण स्थितियों को शान देता और गहराता चलता है। सहजता और व्यंग्य की इस मिली-जुली ताकत से जो कविता छनती है वही भवानी भाई की है। यही देखकर दिनकर जैसे कवियों को यह कहना पड़ा कि काश: भवानी की कविताओं के नीचे मेरा नाम होता।

सच है कि तमाम पारदर्शी भव्यता के बावजूद दिनकर सहज नहीं है। वे मैथिलीशरण गुप्त की अनगढ़ सरलता से मुक्त धुले संवरे कवि हैं। जैनेन्द्र सहज हैं पर सरल नहीं। भवानी भाई की व्यंग्य-सम्पन्न सहजता सरल तो कदापि नहीं, पारदर्शी अवश्य है। उनकी बोली न तो सीधी है न सादी तब भी अर्थ उसके भीतर से मोती की तरह चमकते हैं। धारा के गर्भ में शफरी मछली की तरह इतने साफ दिखते हैं कि आंखें अपना होना महसूस करने लगती हैं। यद्यपि यह ऐसी धारा है जहां अंधेरा और आग रस्सी के मानिन्द बुने हुए हैं। तब भी। चाहें तो आप उसके रेशे-रेशे को हाजिर-नाजिर भी कर सकते हैं और चाहें तो खुद को उसका हिस्सा भी बना सकते हैं। उनका पाठक कहीं भी पराधीन नहीं है। क्योंकि भवानी भाई कलाकार उतने नहीं हैं, जितने कि वे कवि हैं। पाठक वहां बंधने के बजाय खुलता

जाता है।

भवानी भाई की पहली कोशिश कविता को घर, परिवार और देश से जोड़ने की है। वह जो केवल सातवें आसमान की बात करती या कालातीत है, उसे वे अपनी कला के रूप में स्वीकार ही नहीं करते। उसका सबसे पहला वास्ता कवि से होता है। और 'कवि' सिर्फ एक आदमी नहीं होता—

> मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं
> हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।
>
> —दुष्यन्त

भले ही वह 'स्वांत:सुखाय' की घोषणा करे पर उसका 'स्वांत' उस फूल की तरह है जो अपने आस-पास की मिट्टी, हवा और धूप से रंग और गंध लेकर खिलता है। क्या उसका यह खिलना उसकी अकेली कोशिश कही जाएगी? क्या इसमें परिस्थितियों का भारी सहयोग नहीं? कवि का व्यक्तिगत तो शायद ही कुछ होता ही नहीं। यहां तक कि 'सरोज स्मृति' जैसा व्यक्तिगत भी नहीं। कविता कभी व्यक्तिगत हो ही नहीं सकती। जब तक वह कविता है, सबकी है। वह एक ऐसा मकान है जिस पर, बनाने वाले तक का भी हक नहीं। उसे रच लेने के बाद सर्जक भी उन तमाम लोगों में से एक हो जाता है, जो उसे पढ़ रहे होते हैं। भवानी भाई ऐसे ही कवि हैं। एकदम सर्मापित। सिवाय कलम के कुछ भी अपना नहीं। बस यही उनकी पहचान है। जब यह हाथ में होती है वे लिख रहे होते हैं और जब विश्राम में या थकी होती है, वे बोल रहे होते हैं। पर वह थकती कभी नहीं। 'अविराम कालयात्री' कही ही गई है। उसकी इसी दशा में कवि को इन दिनों 'त्रिकाल संध्या' करनी पड़ रही है। 'आठों याम सहज साधना' में उतरना पड़ता है। हर वक्त उसके सामने हाजिर रहना पड़ता है। गाहे-बगाहे की चीज़ नहीं है वह। जो भवानी भाई को जानते हैं उन्हें पता है कि कविता उन्हें कितना व्यस्त और मुस्तैद रखती है। वे एक झरने की तरह बहते ही रहते हैं और वह अनायास होती रहती है। उससे बच निकलना उनके बूते की बात नहीं।

चाहे भवानी भाई आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे हों या आज़ाद

हिन्दुस्तान में ही कविता उनका साथ दे रही होती है। नौकरी, शादी, बीमारी और मौत के तमाम मोर्चों पर वह उनके साथ खटती, गाती, बेचैन होती और जूझती है। ज़िन्दगी जितने रंगों में डूबी है, जितने कीचड़ से सनी है, जितने बोझ से लदी-फंदी है उनकी कविता भी उतनी ही डूबी, सनी और लदी-फंदी है। उसे सुनना या पढ़ना ज़िन्दगी को नये सिरे से दुहराना है।

सहज और स्वभाव सिद्ध होने के कारण ही वह हर क्षण बजती है। पढ़ने में जितना वह खुलती है, उससे कहीं अधिक सुनने में। यद्यपि यह बात आज के युग में उसके खिलाफ जानेवाली है, तब भी भवानी भाई बाज कहां आते हैं। यह अंदाज़ लगाना मूर्खता ही होगी कि वे इस रहस्य को भांप नहीं सके हैं। बल्कि उनसे ज़्यादा क्या कोई भांप सकता है। तभी तो वे शब्द को 'मंत्र' की तरह प्रयुक्त करते हैं। ऐसा 'मंत्र' जिसकी चरितार्थता पाठ में ही है। जिन्होंने उन्हें कविता पढ़ते हुए देखा है उन्हें यह बताने की ज़रूरत नहीं कि पढ़ना और विशेषकर भवानी भाई का, क्या होता है। कविता उस वक्त सिर्फ शब्द नहीं होती। वह उनकी आंखों से बरसती है, ओठों पर नाचती है, उजले अर्थों के महीन कपड़े पहनकर। और सुनने वाला चाहकर भी अपने वश में नहीं रह सकता। असल बात तो यह है कि भवानी भाई की कविता 'मन' से पैदा होती है। दुगुने 'मन' से पढ़ी जाती है। इस नाते वे जब उसे पढ़ रहे होते हैं, उनकी आंखों के अचानक कौंधने या गीले हो जाने के संयोग बने ही रहते हैं। लिखी जाकर भी वह कवि को 'मुक्त' नहीं करती। और बार-बार पढ़ी जाने पर भी सांस लेने की हद तक हमारे ज़िन्दा रहने की शर्त बनी रहती है।

कवि कविता और पाठक के बीच यह आत्मीयता दूसरे हिन्दी कवि को सहज प्राप्त नहीं। और लोगों की कविता हर वक्त कविता बनी रहती है। लोग या तो मोह मुग्ध होकर झूमते हैं या फिर वाह-वाह करते हैं। भवानी भाई की कविता में लोग होते ही नहीं, वे कवि हो चुकते हैं। यही उनका अपनापन है कि कवि और श्रोता का भेद खत्म हो जाता है। कारण, वही 'मन' है। जो कविता 'मन' से लिखी नहीं जाती, वह 'मन' तक पहुंच कैसे सकती है। शब्दों के शरीर चाहे जितने मज़बूत और सजे-संवरे हों, जब तक वे हमारे अपने न जान पड़ें, उन्हें हम कहां अपने भीतर जगह दे

पाते हैं। भवानी भाई सीधे दाखिल होते हैं क्योंकि उनकी कविता अहं और इदम् के द्वन्द्व को पार करके आती है। इस दुविधाहीनता के कारण ही कुछ लोग उनकी कविता को भूत जगाने और शुभकामना प्रकट करने वाली कहते हैं; जैसे कि कवि को अपने समय का कुछ होश ही न हो। ऐसे पड़ाव भी आए हैं जब कवि 'होश' के तात्कालिक संदर्भों से काफी गहरे उतरकर कविता और समय के बदलते हुए रिश्तों को फिर से जानने में लग गया है, पर वे केवल शुतुर्मुर्ग बन जाने के क्षण नहीं हैं। बल्कि अलग-अलग जगहों से उस आदमी को आवाज़ लगाने की तरकीबें हैं जो अपने या समय के बोझ से यह बोध ही गवां बैठा है कि आदमी होता क्या है? आज बहुतेरे कवि ऐसे हैं जो अपने-अपने मंचों से उसे आवाज़ लगा रहे हैं। मज़ा तो यह कि इतनी ऊंची बोली को भी वह आदमी सुन नहीं पा रहा है। क्योंकि ये कविताएं बुद्धि के कारखाने से उत्पादित हैं। इनके लक्ष्य अत्यन्त सीमित हैं। भवानी भाई की कविता आदमी की गोद में है और आदमी उसके उजाले में। इसलिए वह केवल प्रहार या आलोचना भर नहीं करती। उसके सुख-दुःख, खुशी-नाखुशी से भी जुड़ी हुई है। आदमी उसके लिए सिर्फ 'विषय' नहीं है। वह कविता से बड़ा है। उससे कहीं ज़्यादा उम्रदराज़ और रहस्यमय। इस नाते भवानी भाई जगह-जगह से घूम-घूमकर उसे ही आवाज़ लगाते हैं। हर तरह से उसे भरोसा देते हैं और कविता उसके अंधेरे कोनों में भी उतरकर उससे भर मुंह बात कर लेती है। इसमें पहल स्वयं कवि करता है। इसलिए दूसरों तक पहुंचने में उसे कोई कठिनाई पेश नहीं आती। दिक्कत तो वहां आती है, जहां आप सिर्फ दूसरों का रहस्य खोलना चाहते हैं।

भवानी भाई की कविता समूचे मनुष्य को लेकर चलती है। वह जो भविष्य में जितना है, उससे कहीं अधिक अतीत में है। और इस अतीत को सक्रिय किए बिना भविष्य घट ही नहीं सकता। अतीत गर्भ केन्द्र है। भविष्य उसका शिशु है। भवानी भाई जब 'भूत जगाने' की बात करते हैं तब वे उसी मानव इतिहास की ओर इशारा कर रहे होते हैं।

समकालीन कविता में आदमी का व्याकरण सिर्फ वर्तमान काल बन-कर रह गया है। चमत्कार और आत्महीनता की ढेर सारी गांठों ने हमारे

कवियों से वह ज़मीन छीन ली है जो उन्हें परम्परा से प्राप्त थी। ऊंचे बोल और अति वाचालता ने कविता को उसके केन्द्र से भटका दिया है। अन्यथा कोई कारण न था कि वह इतनी अकेली और बुद्धिग्रस्त होती। आदमी जैसा है, उसे ठीक से पहचानने के लिए कवि को 'भूत जगाना' ही पड़ता है। संसार का जो सर्वोपरि सत्य है, उसे उसके विस्तृत संदर्भों में जानना पड़ता है। वह केवल कमल का फूल, हिमालय पहाड़ और आकाश का तारा नहीं है। वह जंगल और नदी भी है। वह केवल रोने-झींकने वाला, आफतों के बीच थरथराने वाला ही नहीं मौत से दो-दो हाथ करने का हौसला भी है। जंगल को वह प्यार करता है पर समूचे जंगल की अराजकता को खत्म करने के लिए आग लगाने का समर्थन भी करता है—

फूल को
बिखरा देने वाली हवा भी
कौन कहता है
कि चलनी नहीं चाहिए
समूचा जंगल
जला देने वाली आग भी
कौन कहता है
कि लगनी नहीं चाहिए।

आदमी जो बार-बार रचा जाता है और वह जो हर बार रचता है—दोनों ही ठहरे हुए नहीं हैं। वह हर क्षण बदलता हुआ सत्य है क्योंकि वह चल रहा है। कोई चाहें भी तो इसे चन्द वर्षों में कैद नहीं कर सकता। भवानी भाई इसलिए आदमी की पहचान उसकी परिस्थितियों के भीतर से करते हैं। यही इतिहास दृष्टि है। वे न तो उस आदमी की बात करते हैं जो सब कुछ से ऊपर है और न उसकी जो अपने ही समय के दबावों से दब-पिच गया है। विपरीत इसके वे उसकी जिजीविषा और गरिमा को जगाते हैं। मनुष्य को लघु, तुच्छ या हेय मान लेने वाली अक्ल उनमें है ही नहीं। उनका 'मनुष्य' मस्तमौला और अपराजेय है क्योंकि वह केवल वर्तमान नहीं है। उसे अपने बारे में न तो कोई मुग़ालता है, न ही उसमें कोई पस्ती

ही। हर हाल में ही उसकी ज़िन्दादिली कायम है। यह सब तभी संभव है जब कोई कवि समूचा देश बन जाए। और यह सब उसका व्यक्तिगत लगने लगे।

कल जाने कितने विशेषण उन्हें दिए जाएंगे। समय के लम्बे रास्तों पर इन विशेषणों का झड़ जाना भी प्रायः तय है। क्या इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह कवि है और सारा संसार उसकी कविता है। फिर उससे यह आग्रह क्यों कि वह यह या वह न लिखे। या फलां-फलां लिखे। दोनों ही आग्रह समीक्षा के दुस्साहस हैं। देखना सिर्फ यह पड़ता है कि जो लिखा गया है वह मानव-विरोधी तो नहीं है। कहीं से वह आदमी को तोड़ तो नहीं रहा है। यह दूसरी बात है कि साधारण कवि सिर्फ अपने छन्द बदलता है और नया हो जाता है जबकि विशिष्ट कवि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी बदल देता है। उसके शब्द सिर्फ हमारे स्थापित आस्वाद को पोख्ता-भर नहीं करते, उसे नये सिरे से बनाते भी चलते हैं। अनुभवों की यह ताज़गी ही किसी कवि को बड़ा करती है। गांधी को लक्ष्य करके कितनी ही कविताएं लिखी गई हैं, पर उनमें गांधी के अलावा सब है। फिर उनके लिखी होने का मतलब ? क्या किसी का विवरण दे देने भर से कोई कविता सार्थक या प्रामाणिक हो जाती है ? सब जानते हैं कि गांधी या मार्क्स पर लिखी गई कविताओं में दोनों की प्रतीति तक नहीं है। यही हाल राष्ट्रीय कविताओं का भी है। हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तान चिल्लाने से कैसे कोई राष्ट्रीय हो सकता है ? सिर्फ सीमाओं की हुंकार या जय-जयकार राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती। वही कविता राष्ट्रीय होगी जो समाज की चिन्ताओं से जुड़कर उनके निपटाने में हमारी मदद भी करती है। भवानी भाई की कविता इन्हीं अर्थों में राष्ट्रीय है। एकाध युवा कवि इसे शुभकामना कहकर मुस्काते हैं। जैसे शुभकामना कोई बुरी बात हो। यह सही है कि अकेले शुभकामना से कुछ होने को नहीं पर उनकी कविता में और भी कुछ है जिसे ये भाई लोग अपनी आंखों से देख नहीं पाते। ये यह भी भूल जाते हैं कि कवि एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी रहा है और आज भी उसका यह स्वभाव बरकरार है। मौका आते ही वह अब भी जनता के बीच जा खड़ा होता है। उसे संबोधित करता है। हर कंधे पर हाथ रख उसे अपने समय की बदतमीजियों

के खिलाफ खड़े रहने की प्रेरणा देता है। आपातकाल में जब वे सारे तथा-कथित अग्निवर्षी कवि दुबके हुए थे। हमारा यह कवि 'परिवर्तन जिये' जैसे संकलनों की कविताएं पढ़ कर अलख जगा रहा था—

घटनाएं
हम तक आयें
इससे अच्छा है
कि हम
घटनाओं तक
जायें।

अर्थों से भी अधिक अभिप्राय प्रकट करने वाली ये कविताएं क्या सिर्फ शुभकामनाएं हैं? क्या वह ललकार इनमें नहीं है जो हमें अपने आदमी होने की याद दिलाती है। कहना होगा कि निराला के वाद पौरुष का यह अकेला कवि है। और लोग भी मेरी निगाह में हैं पर उन्हें या तो उद्‌बोधन का कवि कहा जा सकता है या फिर आक्रोश का। पौरुष एक समूची संस्कृति है, उद्‌बोधन और आक्रोश उनकी धाराएं मात्र। पौरुष सबसे पहले अपने तईं चरितार्थ होता है। इस बीच ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने अपने समय के जटिल व्यूह में खुद को उलझाकर अपने तनाव और संघर्ष को शाबाशी देनी चाही है जैसे कि मनुष्य के इतिहास में यह सब पहली बार घटित हो रहा हो। संघर्ष निश्चय ही उनके काव्य का चरम मूल्य है। पर जो प्रक्रिया है उसे चरम मूल्य नहीं स्वीकारा जा सकता। चरम मूल्य तो आदमी का पुरुषार्थ ही है। प्रत्येक युग इसी की अभिलाषा करता हुआ संघर्षरत रहता है। भवानी भाई की कविताएं इसी अभिलाषा की जीती-जागती प्रतिमाएं हैं—

तट कितने हैं इसका हमें अनुभव है
समान हैं हमारे लिए ज्वार और भाटे
क्योंकि आकार जो दिया है हमें जीवन ने
प्रमाण है वह होने का हमारा सम्पूर्ण अपने आप में

सबसे महत्त्वपूर्ण आँखें दी हैं जीवन ने हमें ऐसी
जैसे किसी और को नहीं दी गई हैं
पीना चाहता है हममें से जिसकी आँखों ने
धरती और आकाश और सागर
उसकी आँखें यह सब पी गई हैं
और फिर रचा है उसने समर्थ
और लचीले अपने हाथों से
जब जैसा चाहा है ।

यही है भवानी भाई का जीवन-दर्शन। जिसकी धुरी है भारतीयता, पर जिसके विस्तार और गति का कोई ओर-छोर नहीं। समर्थ और लचीले हाथों का आविष्कार इसी संवेदना के चलते संभव बन पड़ा है।

पिछले दस-बारह सालों से भवानी भाई की काव्य प्रतिभा में बाढ़ आ गई है। इसमें कुछ ऐसा भी लिखा जा रहा है जो कल पढ़ने लायक नहीं हो सकता। पर जिसने उसे जीवन मान लिया हो, वह किसी क्षण को बंचा कैसे सकता है। वह एक निरन्तरता है जो छोटी से छोटी बूंद और बड़ी-से-बड़ी धारा में भी सक्रिय है।

इन दिनों ऐसी कविताएं अधिक लिखी गई हैं जिनमें कवि स्वयं सबसे ज़्यादा उभरा है। उजाले और गन्ध का शिलालेख बनकर, रंग और धूप का प्रतीक बनकर, नदी और धारा का रव बनकर। ये सब निरंतरता के द्योतक हैं। इन प्रतीकों की जाति हमारी जानी-पहचानी है। हमारे समय का आदमी जिस अंधाधुंध भागम-भाग में शामिल है, उसके होश को बचाए रखने के लिए ये कितने कारगर साबित होंगे अभी नहीं कहा जा सकता। पर देर-सबेर इनकी ज़रूरत का बोध उसे होगा। तब उसे जान पड़ेगा कि तहलका और चकाचौंध ही जीवन नहीं है। विवेक ही सबसे बड़ा सच नहीं है। दिशाएं और भी हैं और सच्चाइयां भी। कविता का काम इस वृत्त के केन्द्र में जाकर खड़ी हो जाना है। भवानी भाई की कविताएं यहीं खड़ी होकर परिधि की चुनौतियों का करारा जवाब देने की कोशिश कर रही हैं। न वे कभी हार मानने वाली हैं और न उन्हें विचलित ही किया जा सकता है।

क्रम

नई इबारत

कुछ लिखके सो कुछ पढ़के सो
तू जिस जगह् जागा सबेरे
उस जगह् से बढ़के सो !

जैसा उठा वैसा गिरा जाकर बिछौने पर
तिफ़्ल जैसा प्यार यह जीवन खिलौने पर
बिना समझे बिना बूझे खेलते जाना
एक ज़िद को जकड़ लेकर ठेलते जाना
ग़लत है बेसूद है कुछ रच के सो कुछ गढ़ के सो
तू जिस जगह् जागा सबेरे उस जगह् से बढ़के सो

दिन-भर इबारत पेड़-पत्ती और पानी की
बन्द घर की खुले-फैले खेतधानी की
हवा की बरसात की हर खुश्क की तर की
गुज़रती दिन भर रही जो आप की पर की
उस इबारत के सुनहरे बर्क से मन मढ़के सो
तू जिस जगह् जागा सबेरे उस जगह् से बढ़के सो
लिखा सूरज ने किरन की क़लम लेकर जो
नाम लेकर जिसे पंछी ने पुकारा जो
हवा जो कुछ गा गई बरसात जो बरसी
जो इबारत लहर बनकर नदी पर दरसी
उस इबारत की अगरचे सीढ़ियां है चढ़के सो
तू जिस जगह् जगा सबेरे उस जगह् से बढ़के सो !

सुबह हो गई है

सुबह हो गयी है
मैं कह रहा हूँ सुबह हो गई है
मगर क्या हो गया है तुम्हें कि तुम सुनते नहीं हो
अपनी दरिद्र लालटेनें बार-बार उकसाते हुए
मुस्काते चल रहे हो
मानो क्षितिज पर सूरज नहीं तुम जल रहे हो
और प्रकाश लोगों को तुमसे मिल रहा है
यह तो तालाब का कमल है
वह तुम्हारे हाथ की क्षुद्र लालटेन से खिल रहा है
बदतमीजी बन्द करो
लालटेनें मन्द करो
बल्कि बुझा दो इन्हें एकबारगी
शाम तक लालटेनों में मत फँसाए रखो अपने हाथ
बल्कि उनसे कुछ गढ़ो हमारे साथ-साथ
हम जिन्हें सुबह होने की सुबह होने से पहले
खबर लग जाती है
हम जिनकी आत्मा नसीमे-सहर की आहट से
रात के तीसरे पहर जग जाती है
हम कहते हैं सुबह हो गयी है।

जंगल और शेर

जंगल के राजा, सावधान
ओ मेरे राजा, सावधान

कुछ अशुभ शकुन हो रहे आज !

जो दूर शब्द सुन पड़ता है
वह मेरे जी में गड़ता है
रे इस हलचल पर पड़े गाज !

ये यात्री या कि किसान नहीं
उनकी-सी इनकी बान नहीं
ये चुपके-चुपके बोल रहे !

यात्री होते तो गाते तो
आगी थोड़ी सुलगाते तो
ये तो कुछ विष-सा घोल रहे !

ये एक-एक कर बढ़ते हैं
लो सब झाड़ों पर चढ़ते हैं
राजा झाड़ों पर है मचान !
ओ मेरे राजा, सावधान,
जंगल के राजा, सावधान ! !

राजा गुस्से में मत आना
तुम उन लोगों तक मत जाना
वे सबके-सब हत्यारे हैं
वे दूर बैठकर मारेंगे
वे तुमसे कैसे हारेंगे
माना नख़ तेज़ तुम्हारे हैं।

"वे मुझको खाते नहीं कभी
फिर क्यों मारेंगे मुझे अभी"

तुम नहीं सोच सकते राजा !
तुम बहुत वीर हो भोले हो
तुम इसीलिए यह बोले हो
तुम कहीं सोच सकते राजा !

ये भूखे नहीं पिआसे हैं !
वैसे ये अच्छे खासे हैं
है वाह-वाह की प्यास इन्हें,
ये शूर कहे जायेंगे तब
और कुछ के मन भायेंगे तब
है चमड़े की अभिलाषा इन्हें !

ये जग के सर्वश्रेष्ठ प्राणी
इनके दिमाग इनके वाणी
फिर अनाचार यह मनमाना !
राजा गुस्से में मत आना,
तुम इन लोगों तक मत जाना !

जाहिल मेरे बाने

मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पांवों चलता हूँ
मैं असभ्य हूँ क्योंकि धूल की गोदी में पलता हूँ
मैं असभ्य हूँ क्योंकि चीरकर धरती धान उगाता हूँ
मैं असभ्य हूँ क्योंकि ढोल पर बहुत जोर से गाता

आप सभ्य हैं क्योंकि हवा में उड़ जाते हैं ऊपर
आप सभ्य हैं क्योंकि आग बरसा देते हैं भू पर

आप सभ्य हैं क्योंकि धान से भरी आपकी कोठी
आप सभ्य हैं क्योंकि ज़ोर से पढ़ पाते हैं पोथी
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े स्वयं बने हैं
आप सभ्य हैं क्योंकि जबड़े खून सने हैं

आप बड़े चिंतित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे
आप सोचते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे
मैं उतारना नहीं चाहता जाहिल अपने बाने
धोती-कुरता बहुत ज़ोर से लिपटाये हूँ याने !

सन्नाटा

तो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको,
फिर चुपके-चुपके धाम बता दूँ तुमको ;
तुम चौंक नहीं पड़ना, यदि धीमे-धीमे
मैं अपना कोई काम बता दूँ तुमको।

कुछ लोग भ्रांतिवश मुझे शांति कहते हैं,
निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं;
मैं शांत नहीं निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ
मैं मौन नहीं हूँ, मुझमें स्वर बहते हैं।

कभी-कभी कुछ मुझमें चल जाता है,
कभी-कभी कुछ मुझमें जल जाता है;
जो चलता है, वह शायद है मेंढक हो,
वह जुगनू है, जो तुमको छल जाता है।

मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ,
मैं शांत बहुत हूँ, फिर भी डोल रहा हूँ;
यह 'सर्-सर्' यह 'खड़-खड़' सब मेरी है,
है यह रहस्य मैं इसको खोल रहा हूँ।

मैं सूने में रहता हूँ, ऐसा सूना,
जहाँ घास उगा रहता है ऊना;
और झाड़ कुछ इमली के, पीपल के,
अँधकार जिनसे होता है दूना।

तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ खड़ा हूँ,
तुम देख रहे हो मुझे जहाँ पड़ा हूँ
मैं ऐसे ही खँडहर चुनता फिरता हूँ,
मैं ऐसी ही जगहों में पला, बढ़ा हूँ।

हाँ, यहाँ क़िले की दीवारों के ऊपर,
नीचे तलघर में या समतल पर भू पर
कुछ जन-श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है,
जो मुझे भयानक कर देती हैं छू कर।

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है,
पर ख़ास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है;
बस एक बात है, वह केवल ऐसी है,
कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं।

यहाँ बहुत दिन हुए एक थी रानी,
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी;
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी,
थी उसकी केवल एक यही नादानी!

यह घाट नदी का, अब जो टूट गया है,
यह घाट नदी का, अब जो फूट गया है;
वह यहाँ बैठकर रोज़-रोज़ गाता था,
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है।
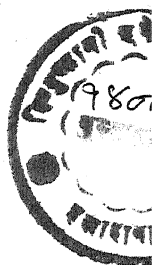
शाम हुए रानी खिड़की पर आती,
थी पागल के गीतों को वह दुहराती;
तब पागल आता और बजाता बंसी,
रानी उसकी बंसी पर छुप कर गाती।

किसी एक दिन राजा ने यह देखा,
खिंच गयी हृदय पर उसके दुख की रेखा;
वह भरा क्रोध में आया और रानी से,
उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा।

रानी बोली पागल को ज़रा बुला दो,
मैं पागल हूँ, राजा, तुम मुझे भुला दो;
मैं बहुत दिनों से जाग रही हूँ राजा,
बंसी बजवा कर मुझको ज़रा सुला दो।

वह राजा था हाँ, कोई खेल नहीं था,
ऐसे जवाब से उसका मेल नहीं था;
रानी ऐसे बोली थी, जैसे उसके
इस बड़े क़िले में कोई जेल नहीं था।

तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी,
रानी की कोमल देह यहीं झूली थी;
हाँ, पागल की भी यहीं, यहीं रानी की,
राजा हँस कर बोला, रानी भूली थी।

किन्तु नहीं फिर राजा ने सुख जाना,
हर जगह गूँजता था पागल का गाना;
बीच-बीच में, राजा तुम भूले थे,
रानी का हँसकर सुन पड़ता था ताना।

तब और बरस बीते, राजा भी बीते,
रह गये क़िले के कमरे-कमरे रीते,
तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये,
अब हम सब मिलकर करते हैं मनचीते।

पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है,
लाता है रानी को, या गा जाता है;
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगट पर
अनजान एक सकता-सा छा जाता है।

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल।

झाड़ ऊँचे और नीचे
चुप खड़े हैं आँख मींचे,
घास चुप है, काश चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है;
बन सके तो धँसो इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल

नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल !

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य को पथ ढँक रहे-से,
पंक दल में पले पत्ते,
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इनको दल सको तो,
ये घिनौने-घने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल !

अटपटी उलझी लताएँ,
डालियों को खींच खाएँ
पैरों को पकड़ें अचानक,
प्राण को कसलें कपाएँ,
साँप-सी काली लताएँ
बला की पाली लताएँ
लताओं के बने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल ।

मकड़ियों के जाल मुँह पर,
और सिर के बाल मुँह पर,
मच्छरों के दंश वाले,
दाग काले-लाल मुँह पर,
वात झँझा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,

कष्ट से ये सने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल ।

अजगरों से भरे जंगल
अगम, गति से परे जंगल,
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कंप से कनकने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल ।

इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर,
पाल कर निश्चिंत बैठे,
विजन वन के बीच बैठे,
झोंपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले
जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती,
मत्त करती बास आती,
गूँज उठते ढोल इनके,
गीत इनके ढोल इनके ।

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से

ऊँघते अनमने जंगल
जागते अँगड़ाइयों में,
खोह खड्डों खाइयों में
घास पागल, काश पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल,
मत्त मुर्गे और तीतर,
इन वनों के खूब भीतर !

क्षितिज तक फैला हुआ-सा
मृत्यु तक मैला हुआ-सा,
क्षुब्ध काली लहर वाला,
मथित, उत्थित ज़हर वाला,
मेरु वाला, शेष वाला,
शंभु और सुरेश वाला,
एक सागर जानते हो ?
उसे कैसा मानते हो ?
ठीक वैसे घने जंगल,
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।

धँसो इनमें डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,
उतरकर बहते अनेकों,
कल-कथा कहते अनेकों,
नदी निर्झर और नाले,
इन वनों ने गोद पाले,
लाख पंछी सौ हिरन-दल,

चाँद के कितने किरन दल,
झूमते बन-फूल फलियाँ,
खिल रहीं अज्ञात कलियाँ,
हरित दूर्वा, रक्त किसलय,
पूत, पावन, पूर्ण रसमय,
सतपुड़ा के घने जंगल,
लताओं के बने जंगल।

गीत-फ़रोश

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !

जी, माल देखिए, दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं हैं, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने,
यह गीत सख़्त सर-दर्द भुलाएगा,
यह गीत पिया को पास बुलाएगा !

जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको,
पर बाद-बाद में अक़्ल जगी मुझको,
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान,
जी, आप न हों सुन कर ज़्यादा हैरान—
मैं सोच समझ कर आख़िर
अपने गीत बेचता हूँ,
जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ,

मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !

यह गीत सुबह का है, गा कर देखें,
यह गीत ग़ज़ब का है, ढा कर देखें,
यह गीत ज़रा सूने में लिक्खा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिक्खा था,
यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है,
यह गीत बढ़ाए से बढ़ जाता है !

यह गीत भूख और प्यास भगाता है,
जी, यह मसान में भूख जगाता है,
यह गीत भुवाली की है हवा हुजूर,
यह गीत तपेदिक़ की है दवा है हुजूर,
जी, और गीत भी हैं दिखलाता हूँ,
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ।

जी, छंद और बेछंद पसंद करें,
जी अमर गीत और वे जो तुरत मरें !
ना, बुरा मानने की इसमें बात,
मैं ले आता हूँ क़लम और दावात,
इनमें से भाये नहीं, नये लिख दूँ,
जी, नये चाहिए नहीं, गये लिख दूँ !
मैं नये, पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ,
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।

मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !
जी, गीत जनम का लिखूँ मरण का लिखूँ,
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ,
यह गीत रेशमी है, यह खादी का,
यह गीत पित्त का है, यह बादी का !
कुछ और डिज़ाइन भी हैं, यह इलमी,
यह लीजे चलती चीज़, नयी फ़िल्मी,
यह सोच-सोच कर मर जाने का गीत,
यह दुकान से घर जाने का गीत !

जी नहीं, दिल्लगी की इसमें क्या बात,
मैं लिखता ही तो रहता हूँ दिन-रात,
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत,
जी, रूठ-रूठ कर मन जाते हैं गीत !
जी, बहुत ढेर लग गया, हटाता हूँ,
गाहक की मर्ज़ी, अच्छा जाता हूँ;
या भीतर जाकर पूछ आइए आप,
है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप,
क्या करूँ मगर लाचार
हार कर गीत बेचता हूँ !
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ,
मैं क़िसिम-क़िसिम के गीत बेचता हूँ !

फूल कमल के

फूल लाया हूँ कमल के
क्या करूँ इनका ?

पसारें आप आँचल
छोड़ दूँ हो जाय जी हल्का !
किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?

कुछ नहीं होता किसी की भूल का
मेरी कि तेरी हो
ये कमल के फूल केवल भूल हैं !
भूल से आँचल भरूँगी
तो वज़न इनके मरूँगी

ये कमल के फूल लेकिन
मानसर के हैं
मैं इन्हें हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं
भूल भी यादे हैं अछूती भूल हैं
मानसर वाले कमल के फूल हैं !

वाणी की दीनता

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता !
कहने में अर्थ नहीं
कहना पर व्यर्थ नहीं
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता !

आस-पास भूलता हूँ
जग भर में झूलता हूँ
सिंधु के किनारे जैसे
कंकर शिशु बीनता !

कंकर निराले नीले
लाल सतरंगी पीले
शिशु की सजावट अपनी
शिशु की प्रवीनता !

भीतर की आहट-भर
सजती है सजावट पर
नित्य नया कंकर-क्रम
क्रम की नवीनता !

कंकर को चुनने में
वाणी को बुनने में
कोई महत्त्व नहीं
कोई नहीं हीनता !

केवल स्वभाव है
चुनने का चाव है
जीने की क्षमता है
मरने की क्षीणता !

कठपुतली

कठपुतली
गुस्से से उबली

बोली— ये धागे
क्यों हैं मेरे पीछे-आगे ?
इन्हें तोड़ दो;
मुझे मेरे पाँवों पर छोड़ दो।
सुनकर बोलीं और-और
कठपुतलियाँ
कि हाँ,
बहुत दिन हुए
हमें अपने मन के छँद हुए।
मगर···?

पहली कठपुतली सोचने लगी.
यह कैसी इच्छा
मेरे मन में जगी ?

इसे जगाओ

भई, सूरज
ज़रा इस आदमी को जगाओ,
भई, पवन
ज़रा इस आदमी को हिलाओ,
यह आदमी जो सोया पड़ा है,
जो सच से बेख़बर
सपनों में खोया पड़ा है।
भई पंछी,
इसके कानों पर चिल्लाओ !

भई, सूरज ! ज़रा इस आदमी को जगाओ !
वक्त पर जगाओ,
नहीं तो जब बेवक्त जागेगा यह
तो जो आगे निकल गये हैं
उन्हें पाने
घबरा के भागेगा यह !

घबरा के भागना अलग है
क्षिप्र गति अलग है
क्षप्र तो वह है
जो सही क्षण में सजग है

सूरज, इसे जगाओ,
पवन, इसे हिलाओ,
पंछी इसके कानों पर चिल्लाओ !

अप्रस्तुत

आँखें उठाओ,
देखो आकाश नीला है,
हल्के लाल बादल हैं,
चाँद गहरा पीला है,
अच्छी शाम है,
हवा रुकी है,
पंछी गा रहे हैं,
मगर
इस सबका क्या होगा,
मुझे चेटियार साहब बुला रहे हैं !

निरापद कोई नहीं है

निरापद कोई नहीं है
न तुम, न मैं, न वे
न वे, न मैं, न तुम !
सबके पीछे बँधी है दुम आसक्ति की !

आसक्ति के आनन्द का छन्द ही ऐसा है
इसकी दुम पर
पैसा है !

ना, निरापद कोई नहीं है
ठीक आदमक़द कोई नहीं है !
न तुम, न मैं, न वे
न वे, न मैं, न तुम

कोई है, कोई है, कोई है ?
जिसकी ज़िन्दगी
दूध की धोई है ?

दूध किसी का धोबी नहीं है।
हो, तो भी नहीं है !

शब्द ग्रस्त

शाम हो रही है सूरज डूबता है
दिन भर के कामों से

मेरा जी ऊबता है, लगता है
लौटूँ मैं भी
लौट रहे हैं जैसे
ये पंछी
ये दफ्तरी
ये मज़दूर
लौटूँ मैं भी शब्दों के गाँव से
सचमुच के किसी नीड़
किसी घर
किसी झोंपड़ी में !

मेरा मगर लौटना अब
सम्भव नहीं शब्दों के गाँव से
शब्दों की ध्वनियाँ मुझे पकड़े हैं
शाम हो सूरज डूबे
सुबह हो सूरज ऊगे
दिन-दोपहरी हो
गहरी हो रात चाहे
मुझे तो इसी गाँव में रहकर
जगाने हैं भूत
बुलाने हैं अनागत
शब्दों की ध्वनियाँ
मुझे पकड़े हैं।

शरीर और फ़सलें, कविता और फूल

कमर जैसे कलाई टूट जाये
हिम्मत जैसे घड़ी फूट जाये

तबीयत कुछ नये ढंग से खराब हुई है
सोचने की इच्छा लगभग शराब हुई है
ज़रा अकेलापन कि ख़याल में ग़र्क
उम्र के वर्क़ उसी में धुँधले हैं
उजले हैं उसी में सामने आते हुए दो हाथ
साथ-साथ सूखते दिख रहे हैं
एक वृक्ष एक नदी
नाव पर लदी हुई बारात को
गीत नहीं सूझ रहा है
शाम का सारा समां
मल्लाह से जूझ रहा है

असभ्य सन्देहों को सहलाऊँ
धुँधले-धुँधले दिनों को
धूप में घसीटूं नहलाऊँ
बहलाऊँ बरसों के उदास मन
रास्ते के हिसाब से क़दम धरूँ

शरीर और फ़सलें, कविता और फूल
सब एक हैं
सबको बोना बखरना गोड़ना पड़ता है
सत्य हो शिव हो सुन्दर हो
आख़िरकार इन सबको
किसी न किसी पल तोड़ना पड़ता है
जैसे काँटा अचानक पाँव में गड़ता है
ऐसे हर कारण
समय में जाकर पड़ता है

किसी क्षण कौन-सा कारण
उच्चाटन वशीकरण मारण
या मरण का पनपा
सो मैं नहीं जानता
मगर कारणहीन नहीं मानता मैं
किसी पल के पाँव को
वह लँगड़ा के चले
चाहे हिम्मत से जमाकर एड़ी
ज़िन्दाबाद कारण के काँटे
संयोग की बेड़ी

ऊँचे से गिरती है जब धारा
तो धुआँ हो जाता है उसका पानी
बानी को तुमने पत्थर पर कसा
तो धुआँ भी समझते उसका
असम्भव को तश्तरी में पेश तुम करो
सम्भव से ज़्यादा को
कलरव नहीं कहते
उसका अलग नाम है

शब्द अपनी गवाही देंगे
मगर उसके आगे
जो उनके पीछे तक देखता है

एक मौसम आ रहा है
दूसरा जा रहा है
मेरे मन में इन दिनों
कोई नहीं गा रहा है
क्योंकि मन

एक मैली कमीज़ है इन दिनों
सोच रहा हूँ धुलने दे दूँ कहीं
या खुद धो डालूँ
मगर कमीज़ एक ही है
और मौसम
खुले बदन दस मिनिट भी
बैठने का नहीं है
याने यह मौसम मेरी क़लम से
एक भी गीत ऐंठने का नहीं है
जो दृश्य सारे दृश्यों में अच्छा है
इन दिनों उसकी तरफ़ मेरी पीठ है
याने अदीठ एक घाव है
अच्छे से अच्छा दृश्य मेरे लिए फ़िलहाल
सवाल नहीं उठता उसे मेरे देख सकने का
वर्णन उसका पर्यायवाची हो सकता है
कोरे बकने का

इसलिए
जो कह सकता हूँ इन दिनों
उसमें न गाने का कुछ है
न मुसकाने का
खाली शामों में उसे पढ़ा-भर जा सकता है
उलझन-भरी दृष्टि
उसके बाद गड़ायी जा सकती है
अंधेरापन समेटते हुए आसमान पर
क्योंकि विस्मृति की इच्छा-भर
बहती है इन कविताओं के तल में
रोज़मर्रा का दुखी चेहरा
प्रतिबिम्बित है इस जल में

ग़ोताज़न हैं इसमें छोटे सुख
दीर्घ दुख चित लेटे हैं इसकी लहरों पर
पहरों बिना थके पड़े रह सकते हैं
आप चाहें तो कह सकते हैं इसे
उनकी ज्यादती पानी के साथ
या कह सकते हैं
मेरी अनौपचारिकता बानी के साथ

फूल को बिखरा देने वाली हवा भी
कौन कहता है कि चलनी नहीं चाहिए
समूचा जंगल जला देने वाली आग भी
कौन कहता है
कि जलनी नहीं चाहिए
अरसे से ऐसी एक हवा
मुझ पर चल रही है
जल रही है मुझमें
अरसे से एक ऐसी आग
और मैं उसकी सुन्दरता को
समझने की कोशिश कर रहा हूँ
कभी अलकें दिखती हैं
इस सुन्दरता की मुझे
तो कभी पलकें
साढिम और लचीली
बँधती नहीं हैं वह मेरी बाँहों में
मगर झलकें ज़्यादा-ज़्यादा
मिलती हैं इसकी अब पहले से

मैं खुला बैठा हूँ हवा में और आग में
सपना नहीं था

कि ऐसी ज़बर्दस्त निष्क्रियता भी
लिखी है भाग में
किसका ख़याल करूँ
सौभाग्य के इस पल में
वह रही है विस्मृति की इच्छा-भर
भीतर जब मन के तल में

मनोरथ

जब अँधेरा घिरता है
मेरा मन डाल के टूटे पत्ते-सा
नीचे गिरता है
और आवाज़ सुनता हूँ मैं
डाल से अपने मन के टूटने की
ज़मीन पर आ रुकने तक
हवा का बदला हुआ
स्पर्श भी अनुभव करता हूँ

जब दूसरे टूटे पत्तों के साथ
जाकर पड़ जाता है मेरा मन
तब सघन अँधेरा बुद्धि को छूता है

और बुद्धि सोचने के बजाय तथ्यों को
उकसाती है कल्पना को
और कल्पना
अजीब-अजीब सम्भावनाएं
सोचती है
एकाध बार लगता है

जब मन नहीं रहा शरीर में
तो बिना मन के इस शरीर को
कौन चीज़ कहाँ तक चलायेगी

मन के बल पर
ले जाता था मैं इसे चाहे जहाँ
दिन को पहाड़ों की चोटियों पर
चढ़ा देता था
रात में
दिन-भर की स्मृतियों से
धो देता था इसकी थकान
और अब सिर्फ़
तय किया जा सकता है
दिन निकलने पर
बुद्धि के बल पर
रास्ता
मगर दौड़ाया तो
नहीं जा सकता पाँवों को
दौड़ने की इच्छा के बिना
किसी छोटे-बड़े पथ पर

रथ था
मेरा मन
शरीर के लिए
टूट चुका है
अब वह मनोरथ
किसी डाल के पत्ते-सा

मौत की आँखें

दम कहीं नहीं है कहकर
उसने मेरी तरफ़ देखा
दम उसकी आँखों में भी नहीं था
मैं चुपचाप
उसकी आँखों को देखता रहा

उसने कहा दम कहीं नहीं है
मैं दम की साहस की हिम्मत की
खोज में घूमी हूँ
जहाँ-जहाँ शक हुआ कि दम है
रुकी हूँ वहाँ-वहाँ
अपने को इस सन्देह पर
लुटाया है कहाँ-कहाँ

मगर दम कहीं नहीं है
सब दम का नाटक करते हैं
क्योंकि नाटक दम का उपयोगी है
वह ख़ुद नहीं
और फिर वह हलके-से हँसी
बेदम उसकी आँखों में एक चमक आयी
और मैं सोचने लगा इसने
मुझे भी थाह लिया है !

जानता हूँ

अभी जीवन
कम-ज़्यादा छन्द है
साँसों का कम-ज़्यादा

मगर किसी नियम से घटना-बढ़ना
छाती का कम-ज़्यादा
मगर धड़कते रहना

बंद भी आँखों का जलना
सपनों में लहर-लहर
उड़ना विचारों का
हिलना हाथ-पाँवों का
अभी सब
छन्द है कम-ज़्यादा

जानता हूँ
संगीत हो जायेगा जीवन
जब शरीर से
छूटेगा यह
कण्ठ से छूटे
स्वर की तरह

धड़कनें बदल जायेंगी
मूर्च्छना में
साँसें हो जायेंगी लय

प्रलय की नदी में
तरंग पैदा करेंगे
डाले गए हाड़

सरसराते हुए किनारे के
वन के साथ
गूँजूँगा मैं वर्षा में तूफान में

अभी जीवन छन्द है
जानता हूँ
शरीर से छूटकर संगीत हो जायेगा यह ।

तोड़ो चमत्कारों में पड़ी गाँठें

मेरे सामने
टूटे पंखों से भरा एक मैदान है
ऊपर मेरे सिर के
दिखता है आसमान
सूना तैरते पंखों से
दुर्वाच्य अँकों से भाग्य के
भाता था जिन्हें लड़ना

सारे-के-सारे ऐसे ही ये पंख
तैरने के बजाय आसमान में
टूटे पड़े हैं
मृत्यु से भी अधिक शान्त
एक लम्बे-चौड़े मैदान में

और तुम नितान्त सभ्य बैठे हो निश्चिन्त
अपने सजे-सजाये कमरे में
न मैदान में निकलते हो
न झांकते हो खिड़की से
पंख-विहीन आसमान का सूनापन

सतर्क अपने दिमाग़ को
उस तरफ़ जाने ही नहीं देते
जहाँ तोड़ रहे हैं दम
या जहाँ ठोक रहे हैं दम ख़म लोग
निर्भय भाग्य के
आमने-सामने खड़े होकर
समझ में नहीं आता इतने बड़े होकर
क्या करोगे तुम
क्या कभी नहीं मरोगे तुम
फिर मरने की
सोचते क्यों नहीं हो किसी बात पर
रात-भर अपनी ही छाती का काल्पनिक दर्द
जगाये जगत-भर में
क्या दोहराया करते हो कुछ गीतनुमा
घुमाया नहीं जाता शून्य को
शून्य में इस तरह
जिस तरह तुम घुमाते हो
न-कुछ दर्दों की अपनी कल्पना को
बना-बनाकर गीत

और गान और रूपक और कविता
सविता-पंखों की
अगर आसमान में नहीं है तो

हो नहीं जायेगा क्या अँधेरा
और ठण्डा और प्राणहीन
समूचा वातावरण
मरण तब क्या तुम्हारे बन्द कमरे को ही
छोड़ देगा
तोड़ क्या नहीं देगा अखिल का अँधेरा
तुम्हारी झूठी कल्पनाओं की
झनझनाती हुई शृंखला

कमरे में मैं भी पड़ा हूँ
मगर फ़र्क़ है तुमसे मेरा
पंखहीनों का साथी हूँ मैं
और देख रहा हूँ सामने के मैदान
और आसमान को खोलकर खिड़की

मेरे पंख
टूटे हुए पंखों के बीच पड़े हुए हैं
और मन तुले हुए डैनों के
साथ है
मैं तुम्हारा साथी हूँ हो नहीं सकता
अन्तर है मेरे शब्दों
और तुम्हारे शब्दों में भी
तुम्हारी कला ठण्डी है
मैं उसके पास भी नहीं फटक सकता
क्योंकि मेरे पास न कमीज़ है न बण्डी है
खुले बदन ठण्डी कला के पास
जाना भी चाहूँ तो बनेगा नहीं मुझसे
तनेगा नहीं मुझसे
चाहूँ तो भी कोरी चतुराई का वितान

स्त्रीलिंगी तिस पर तुम्हारी तुकें
गर्भाशयहीन हैं
जितनी दीन हो सकती हैं ऐसी चीज़ें
ये उनसे भी दीन हैं
इसलिए कहता हूँ
डैने मत चुराओ
फैलाओ इन्हें
अक्षत इनके बल का
कुछ भी नहीं है अर्थ मैदान में
टूटकर गिरने वाले पंख व्यर्थ नहीं हैं
व्यर्थ है अलबत्ता पंखहीन आसमान

इतने सजे-सजाये कमरे में
वन्द करके सारी खिड़कियाँ
बाहर की आवाज़ों से
बचते हुए मन को
मत रमने दो
ऊँचे ही सही किसी छूँछेपन में
तूफ़ानों के थमने का रास्ता मत देखो
उस समय तो
ये भी निकलेंगे और वे भी निकलेंगे
गाते-गुनगुनाते हाँकते डींगें
साफ़-सुथरे
कटे-छंटे तराशे दिन चमत्कार हैं
चमत्कारों की कल्पना में मत उलझो
सुलझो-धीरे-धीरे परिस्थितियों से
बने तो झटका देकर तोड़ो
चमत्कारों में पड़ी गाँठें

बुनी हुई रस्सी

बुनी हुई रस्सी को घुमायें उल्टा
तो वह खुल जाती है
और अलग-अलग देखे जा सकते हैं
उसके सारे रेशे

मगर कविता को कोई
खोले ऐसा उल्टा
तो साफ़ नहीं होंगे हमारे अनुभव
इस तरह

क्योंकि अनुभव तो हमें
जितने इसके माध्यम से हुए हैं
उससे ज़्यादा हुए हैं दूसरे माध्यमों से
व्यक्त वे ज़रूर हुए हैं यहाँ

कविता को
बिखरा कर देखने से
सिवा रेशों के क्या दिखता है

लिखने वाला तो
हर बिखरे अनुभव के रेशे को
समेट कर लिखता है !

मैं तैयार नहीं था

मैं तैयार नहीं था सफ़र के लिए
याने सिर्फ़ चड्डी पहिने था और बनियान
एकदम निकल पड़ना मुमकिन नहीं था

और वह कोई ऐसा बमबारी
भूचाल था आसमानी सुलतानी का दिन नहीं था
कि भाग रहे हों सड़क पर जैसे-तैसे सब

इसलिए मैंने थोड़ा वक्त चाहा
कि कपड़े बदल लूँ
रख लूँ साथ में थोड़ा तोशा
मगर जो सफ़र पर चल पड़ने का
आग्रह लेकर आया था
वह जाने क्यों अधीर था
उसने मुझे वक्त नहीं दिया
और हाथ पकड़कर मेरा
लिए जा रहा है वह
जाने किस लम्बी सफ़र पर
कितने लोगों के बीच से

और मैं शरमा रहा हूँ
कि सफ़र की तैयारी से
नहीं निकल पाया
सिर्फ़ चड्डी पहिने हूँ
और बनियान !

आराम से भाई ज़िन्दगी

आराम से भाई ज़िन्दगी
ज़रा आराम से

तेज़ी तुम्हारे प्यार की बर्दाश्त नहीं होती अब
इतना कसकर किया गया आलिंगन
ज़रा ज़्यादा है जर्जर इस शरीर को

आराम से भाई ज़िन्दगी
ज़रा आराम से
तुम्हारे साथ-साथ दौड़ता नहीं फिर सकता अब मैं
ऊँची-नीची घाटियों पहाड़ियों तो क्या
महल-अटारियों पर भी

न रात-भर नौका विहार न खुलकर बात-भर हँसना
बतिया सकता हूँ हौले-हल्के बिलकुल ही पास बैठकर

और तुम चाहो तो बहला सकती हो मुझे
जब तक अँधेरा है तब तक सब्ज़ बाग दिखला कर

जो हो जाएँगे राख़
छूकर सवेरे की किरन

सुबह हुए जाना है मुझे
आराम से भाई ज़िन्दगी
ज़रा आराम से।

कैसी मेहराबें

कैसी मेहराबें बना गये हैं
मन पर मेरे दुख

सानुपात इन झुकावों से जी सज गया है
और जब कभी झाँकता हूँ भीतर
तो वहाँ एक तरह का
साफ़-सुथरापन लगता है इनके कारण
भीतर का वातावरण अपना ही
कुछ रहस्यमय-सा लगता है मुझे

दुख से बनी इन मेहराबों की छाया में
माया दर्पण लगता है
कई बार मुझे मेरा मन
कहीं ऐसी छाया
कहीं ऐसा साफ़-सुथरापन
अनुक्षण पार करो जितनी मेहराबें
उतने अधिक घन-से घिरते हैं
फिरते हैं ठण्डे और अँधेरे स्पर्श
जैसे अंगों पर

दुख की बनाई इन मेहराबों के ढँगों पर
निछावर है
मेरा सारा दुख
कैसी मेहराबें बना गये हैं मन पर
मेरे दुख !

व्यक्तिगत

मैं कुछ दिनों से
एक विचित्र
सम्पन्नता में पड़ा हूँ

संसार का सब कुछ
जो बड़ा है
और सुन्दर है

व्यक्तिगत रूप से
मेरा हो गया है
सुबह सूरज आता है तो

मित्र की तरह
मुझे दस्तक देकर
जगाता है

और मैं
उठकर घूमता हूँ
उसके साथ

लगभग
डालकर हाथ में हाथ
हरे मैदानों भरे वृक्षों

ऊँचे पहाड़ों
खिली अधखिली
कलियों के बीच

और इनमें से
हर मैदान वृक्ष
पहाड़ गली

और कली
और फूल
व्यक्तिगत रूप से

जैसे मेरे होते हैं
मैं सबसे मिलता हूँ
सब मुझसे मिलते हैं

रितुएँ
लगता है
मेरे लिए आती हैं

हवाएँ जब
जो कुछ गाती हैं
जैसे मेरे लिए गातीं हैं

हिरन
जो चौकड़ी भरकर
निकल जाता है मेरे सामने से
सो शायद इसलिए
कि गुमगुम था मेरा मन
थोड़ी देर से

शायद देखकर
क्षिप्रगति हिरन की
हिले-डुले वह थोड़ा-सा

खुले
झूठे उन बन्धनों से
बँधकर जिनमें वह गुम था
आधी रात को
बंसी की टेर से
कभी बुलावा जो आता है

व्यक्तिगत होता है
मैं एक विचित्र सम्पन्नता में
पड़ा हूँ कुछ दिनों से

और यह सम्पन्नता
न मुझे दवाती है
न मुझे घेरती है

हलका छोड़े है मुझे
लगभग सूरज की किरन
पेड़ के पत्ते

पंछी के गीत की तरह
रितुओं की
व्यक्तिगत रीत की तरह

सोने से सोने तक
उठता-बैठता नहीं लगता
मैं अपने आपको

एक ऐश्वर्य से
दूसरे ऐश्वर्य में
पहुँचता हूँ जैसे

कभी उनकी तेज़
कभी सम
कभी गहरी धाराओं में

सम्पन्नता से
ऐसा अवमृथ स्नान
चलता है रातों दिन

लगता है
एक नये ढंग का
चक्रवर्ती बनाया जा रहा हूँ

मैं एक व्यक्ति
हर चीज़ के द्वारा
व्यक्तिगत रूप से मनाया जा रहा हूँ !

एक माँ

एक माँ
चल रही है सड़क पर
अपने बच्चे को

छाती से चिपटाये हुए
और आश्वस्त है वह
कि प्रलय काल तक

ले जायेगी उसे निकालकर
चारों तरफ से
उमड़कर आ रही आफ़तों से

सड़क के किनारे की
एक बेंच पर
बैठा है एक आदमी

और पढ़ रहा है वह
अख़बार
ऐसे निश्चित-भाव से

जैसे कभी नहीं
छुएँगी उसे
अख़बार में छपी घटनाएँ

दो लड़के
एक दूसरे के गले में
हाथ डालकर

ऐसे हँस रहे हैं जैसे
कोई फ़र्क नहीं पड़ा है देश में
चार-चार-पाँच-पाँच

झूठे चुनावों के बावजूद
सिर्फ़ मैं ही
सोच में पड़ा हूँ

और मुझे ही
काली एक छाया
सरकती और बढ़ती

दिख रही है
क्यों नहीं हो पाता मैं
इस माँ की तरह

अख़बार पढ़ने वाले
इस आदमी की तरह
इन लड़कों की तरह !

जब आप

जब आप मुझे कवि कहते हैं
और मैं उसे मान लेता हूँ
तो मैं जिसे कवि मानता हूँ

वह मैं नहीं हूँ एक कोई दूसरा व्यक्ति है
और छाया है शायद
क्योंकि पकड़ में नहीं आता मेरे भी वह व्यक्ति

क्योंकि छणिक है साधारणतया मेरे मन में भी
कवित्व का आभास
आसपास और अपने भीतर प्राय: जिसको अनुभव

कर पाता हूँ वह तो एक साधारण नागरिक है
कई सम्बन्धों वाला
सारा पीला-काला जिसे भिन्न-भिन्न भावों से

पीना पड़ता है
यह नहीं कहूँगा जीना पड़ता है गिरे-गिरे मन से
क्योंकि जीता तो मैं प्राणपण से हूँ प्रतिक्षण

इसी सब में से छनकर
उतर आता है मेरे भीतर वह छाया-व्यक्ति
काल्पनिक आदमी जिसकी शक्ति मुझसे कभी-कभी

कविता लिखवा लेती है
लिखता मैं प्रायः हूँ मगर जानता हूँ प्रायः ही
रह जाता है मेरा लिखना कविता होने से !

दरिंदा

दरिंदा
आदमी की आवाज़ में
बोला

स्वागत में मैंने
अपना दरवाज़ा
खोला

और दरवाज़ा
खोलते ही समझा
कि देर हो गई

मानवता
थोड़ी बहुत जितनी भी थी
ढेर हो गई !

महारथी

झूठ आज से नहीं
अनन्त काल से
रथ पर सवार है

और सच चल रहा है
पाँव-पाँव

नदी पहाड़ काँटे और फूल
और धूल
और ऊबड़-खाबड़ रास्ते
सब सच ने जाने हैं

झूठ तो
समान एक आसमान में उड़ता है
और उतर जाता है
जहाँ चाहता है

क्रमशः बदली हैं
झूठ ने सवारियाँ

आज तो वह सुपरसॉनिक पर है

और सच आज भी
पाँव-पाँव चल रहा है

इतना ही हो सकता है किसी दिन

कि देखें हम
सच सुस्ता रहा है
थोड़ी देर छाँव में
और

सुपरसॉनिक किसी झँझट में पड़कर
जल रहा है ?

किस मुँह से

खून के कितने गुच्छे अंगूर
लटका देते हो तुम
सवेरे

किस मुँह से कोई तुम्हें
टेरे
ओ पहले दिन से
आज तक के सूरज!

ओ···बहनो

ओ सफेद जलधाराओं की
बहनो
खून रँग चीर मत पहनो

मैंने
तुम्हारी स्वच्छता के कारण
सागर-संगम तक
तुम्हारे साथ बहना
तय किया था

खून रँगे चीर मत पहनो
ओ सफेद जलधाराओं की
बहनो !

शब्दों के तल्प पर

जब चीज़ें नाचें और
स्थिर रहें उनकी परछाइयाँ
तन की बीमारियाँ मन को स्वच्छ कर दें
विश्वास की पराजय चिन्ताएँ हर दें
आकाशवाणियाँ लगने लगें
छोटे-बड़े पंछियों के गीत
अनधीत भी तत्त्व
मुझ पर अपनी आत्मा खोल दें—
कल्पनाएँ आकाश से उतरकर
धरती-भर अपने डैने तौल दें
और लगने लगे कि अब
ऊपर उठने ही वाली है सारी पार्थिवता
शिवता जब जहाँ नज़र डालूँ
वहीं दिख जाये
तब कोई एक ख्याल जो मेरा है
सार्थक हो और लिख जाये
सूर्योदय हर सन्देह की दीठ में

जैसे कभी-कभी मैं
महसूस करता हूँ एक खंडहर
अपने भीतर-भीतर
बहती है जिसमें हरहर हवा
और हिलते हैं उस हवा में
खंडहर के छत से टंगे
जीर्ण और धूल से भरे

झाड़-फानूस नहीं
बचपन में मेरे देखे हुए
विन्ध्या के वे वन
जब गुजरा था मैं उनके बीच से
माँ की गोद में बैठा-बैठा
ले जाया गया था तब मैं मुंडन के लिए
विन्ध्यवासिनी देवी की मढ़िया पर
पहाड़ के शिखर तक
कभी बांई तरफ की कोख के ऊपर रखा जाकर
कभी दाहिने तरफ़ के कंधे से
चिपकाकर
सीधी वह डेढ़-दो मील की चढ़ाई
मुझे माँ की गोद ही लगती रही थी !

माँ को क्या लगता रहा था
श्रम की उस घड़ी में
सो क्या जानूँ
बहुत करके तो उसे न पहाड़
पहाड़ लगा था
च चढ़ाई पर चढ़ना
लेकर मुझे कोई बड़ा काम
बीच-बीच में ले लेती थी वह
जगज्जननी का कोई एक नाम और शायद
पूजा का पल पास आता जा रहा था
उसके लेखे हर क़दम पर !

तथ्य इतने बदलकर भी
सीधे और सुलझे लगें
प्रज्ञाशिखर तक जाने की सीढ़ियाँ लगें

कड़े और बड़े और बिखरे और बेतरतीब
निष्ठुर पत्थर
ध्यान ही न जाये मेरी माँ की तरह
अँगुलियों के लहूलुहान हो जाने की बात पर
अपने ही लिए बिछाई-सी
नीली-चादरें लगें
आसमान को छूती हुई
ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ
लहराते हुए तूफ़ान लगें
वसुमति की वेणियाँ
चीज़ें नाचें और
स्थिर रहें उनकी परछाइयाँ
तथ्य इतने बदलकर
और जब जैसे चाहिए उतरना उन्हें
नहीं उतरते मेरी कविताओं में
अपने ही कल्पनातीत ढंगों से जब तक
नाचते लगते हैं तब तक
मुझे शब्द ही शब्द
और थमे से लगते हैं अर्थ
जिन्हें गति पकड़नी चाहिए
स्थिर शब्दों की धरती पर !

प्रधान बने हैं अब तक मेरे शब्द
हलचल जितनी दिखती है
उनकी दिखती है
क्या मेरी क़लम
जो इतना लिखती है
शब्दों की हलचल के लिए लिखती है ?

दिन जो रंगों का समुदाय है
मेरी आँखों में सफ़ेद-भर हो रहता है
इंद्रधनुषी रंग उसके
महराबें नहीं बनाते मेरे मन के क्षितिजों पर
शब्दों के घनों को छूकर
ठंडी-भर
कर जाती है ओस गिरकर रात में
मैदान-भर बिछी बेहोश घास को
मोती नहीं बनाती चूकर वह
चेतन मेरे मन की शुक्ति में
किसी स्वाति की बूँद की तरह
कल्पना है शायद मोती का इस तरह बनना
पानी की किसी बूँद से
मगर बनता तो है मोती सीपी में
चाहे जिस तरह बनता हो !

चाहता हूँ घने मेरा शब्द-शब्द
चाहे जिस तरह घनता हो
इस तरह कि मोती बने
दिन की किरन-किरन गुज़रकर मुझ में से
इंद्रधनुषी जोती बने
शब्द अर्थों की घटा उठा दें और बरसें
बाँधकर छड़ी
कि मेरे छिन पल घड़ी
उतराते फिरें उनमें
गाते फिरें मेरे प्राण
लगभग शब्दों से अछूते
अर्थवान गान

परछाइयाँ सच्ची हो जायें
चीज़ें केवल उनका आभास देनेवाले प्रतीक बन जायें
किसी न किसी तरह प्रतीक अपने शब्दों को
परछाइयों तक जीवन्त बनाना पड़ेगा
या मनाना पड़ेगा परछाइयों ही को
कि वे शब्दों के तल्प पर
अल्प नहीं चलें-फिरें
लगभग पेशवाज़ पहनकर
धानी-मानी हो जायें
कि जानी हुई दुनिया
एकदम अनजानी हो जाये
स्थिर यह धरती घूमने लगे
आँखों के आगे
हो जायें स्थिर मन में घूमनेवाले विकल्प
शब्दों के तल्प पर आसन जमाये
उभरे दिखते थे जो अर्थ
वे सूक्ष्म हो जायें
और एकाकार तक
रूप बदल जाये हर साकार का

अभी तो मैं देखता हूँ और सोचता हूँ
हवा जैसे काँच के घेरे में
चीज़ों को घेरे है
सत्ता उनकी जितनी दिखती है
उतनी ही दिखती है बस
विवश बँधी-सी हैं वे
उन्हें दे दिये गये रूप में
बहुत हुआ तो धूप में कुछ ज़्यादा साफ़ हो जाती हैं
और अँधेरे में कुछ-कुछ धुँधली

गली, गली ही बनी रहती है
नदी नहीं हो जाती
दौड़ती हुई बैलगाड़ी
रत्नों से लदी नौका नहीं हो जाती ऐसी
जिसके सिर्फ मस्तूल दिख रहे हों
आग क्यों नहीं बरसने लगती उनसे
जब मेरे शब्द केवल फूल लिख रहे हों !

शब्दों की गति से संतोष हो जाता था पहले
अब नहीं होता उतने ही से संतोष
चाहे जितने स्निग्ध और प्रखर
प्रांजल और तरल होकर निकलें वे
पहुँचाते नहीं लगते अब वे
मेरे मन के भीतर पड़ी
परछाइयों की शोभा सब तक
गीता के अर्थ में नहीं हो पाया हूँ मैं
उशना कवि कि विभूतियाँ टपकें
बहें सींचें शिथिल अभिनय की सत्ता के तन्तु
कठपुतलियाँ व्यक्ति बन जायें
लाचारियां शक्ति बन जायें
तरंगें वाणी की उठकर भुजाओं की तरह
थामें तोड़ें बनायें
निकालें काँच के घेरे से बाहर वर्तमान को

पानी अगर गहरा हो
तो सतह पानी की काली होती है
और कुछ नहीं दिखता उसके भीतर का
उसी पर नज़रें गड़ाये रहकर
पाँच फुट भीतर भी डुबकी मारकर

आँखें खोल लो उसमें
तो बहुत-सा दिखने लगता है
उस काले दिखनेवाले पानी के भीतर
अपनी ही बानी में मगर
मारता हूँ डुबकी प्रायः गहरी
और प्राणपण से
डूबने से उभरने के क्षण तक फिर भी
केवल साँस घुटती है
जो देखना सोचा था मैंने वहाँ
सो नहीं दिखता
इतना ही नहीं कुछ ऐसा भी नहीं होता आभास
जिसे देखकर मन में धीरज हो जाता
कि समवेत होकर शब्दों में
कुछ तो किया है मैंने ऐसा
जो नहीं कर सकता था मैं
किन्हीं और चीज़ों को समवेत करके !

लोग समवेत होते हैं
यदि केवल ज़रूरत से भी
तो कैसे-कैसे फल निकलते हैं
कहीं से कोयला कहीं से हीरा निकालकर
वे दल के दल निकलते हैं हँसते-गाते
आते-जाते उनके पाँवों से धरती धसकती है
कसकती है हर अभाव को उनकी इच्छा
और दोस्ती करती है जब उन्हें लाकर
एक जगह इकट्ठा
तो धाराएँ बह उठती हैं सुख की !

शब्द भी तो होते हैं समवेत
इसी तरह ज़रूरत या दोस्ती
या केवल उत्सव मनाने के भाव से
क्यों नहीं कर पाते तब वे वैसा
जैसा करते हैं लोग
होकर इकट्ठा बाजार में विवाह में
मेले में कहो या युद्ध में
क्यों नहीं फूटता उनमें परस्पर
सहज प्रेम, बाधाओं से प्रबल संघर्ष
अपार हर्ष अनिवार आनन्द
अपरिहार्य छन्द ही अथवा
पाँवों या शस्त्रों का !
तब क्या शब्द कम हैं व्यक्तियों से
व्यक्ति की समवेत शक्तियों से
कैसे मान लूँ मैं शब्दों को इतना सीमित
इतना न्यून और नगण्य तक
अन्य तक मुझ से
जब वे मुझ से ही
निकलते हैं प्रायः बनकर एक ओघ
तारतम्य में बँधकर
अर्पण मेरे सर्वस्व का
क्यों नहीं बना पाया है अब तक उन्हें
दर्पण मेरे समूचे भीतरी अस्तित्व का
देह को खोलकर आत्मा की तहें
बावजूद इतनी लगन के
कब तक छुपी रहें
और तो और मेरे आगे !

जैसे जब मैं कहता हूँ
किसी भी संदर्भ में चाँद
तो जितनी चाहता हूँ मैं
मन के भीतर उतनी चाँदनी
क्यों नहीं उससे छिटकती
या जब मैं लिख देता हूँ
किसी पंक्ति में वृक्ष
तो पूरी वह सतर की सतर
हरहराती क्यों नहीं है
या हो क्यों नहीं जाता वातहीन क्षण की तरह
मेरी पूरी कविता के वन का
वातावरण स्तब्ध
या हो क्यों नहीं जाती कम से कम
मेरे आसपास की जगह हरी
और शीतल और ताज़ा !

करने को मदद की है मेरे शब्दों ने
कई बार कई तरह से
पार करा दी हैं अँधेरी गलियाँ
देकर किसी तरह की किरनें
सूने विस्तारों को बना दिया है भयहीन
जगाकर उनमें पग-पग पर
साथ चलते हुए किसी साथी का भान
चढ़ा दिये हैं सीधे-खड़े पहाड़ आफतों के
पाँवों और प्राणों को देकर बल
काले-पीले-नीले मृत्युवर्णी अम्बुधियों में
बन गये हैं डोंगी या नौका या जहाज़
जब जैसा ज़रूरी लगा है उनको
प्रायः पहुँचा दिया है उन्होंने मुझे पड़ावों तक

अगर पड़ाव कुछ
गंतव्य तो नहीं हैं मेरे
नहीं ले जा रहे हैं गंतव्यों तक
मुझे मेरे शब्द
सौंपकर अर्थों को गति सर्प की
समुद्र की गरुड की
तारा के प्रकाश की !

आकाश तक उड़ते देखा है मैंने
और तो और रेत के कणों को
पड़कर चक्रवात में
चक्रवात में ही क्यों नहीं
पड़ जाते मेरे शब्द
या अर्थ ही क्यों नहीं उठ जाते
चक्रवात की तरह इनके धरातल से
या खिंच क्यों नहीं जाते
रोज़-रोज़ सूरज के डूबने के बावजूद
तपकर अपने आप मेरे मन की गति से
तपकर बादल की तरह ऊपर
और फिर भू पर क्यों नहीं बरसते
ऐसी भी जगहों में जाकर
जहाँ न ज़रूरत है पानी की
न ज़रूरत है जहाँ वाणी की !
वाणी का ऐसा ऐश्वर्य
शब्दों के अर्थों से खिंचकर बरसे
तो सरसे कम से कम
मेरे मन का बंजर विस्तार
जिसे पक्का भरोसा

न भगवान में है न आदमी में है
प्यार है मगर जाने कितनी चीज़ों से
बेचारा आदमी तो उनमें है ही
गिनाता-गिनाता मर जाऊँ
अगर प्यार की सारी अपनी जगहें गिनाऊँ
ये जो तीन छोटी-छोटी लड़कियाँ
पकड़कर एक-दूसरे का हाथ
नाच रही हैं गोल-गोल
मेरे सामने के लान में
या वह जो एक लड़का
आसपास कोई नहीं है तो भी
कह रहा है कुछ
दूसरे लड़के से कान में
डालकर गले में उसके हाथ
या यह जो विदेशी आठ दिन से
हमारे अतिथि गृह में आकर
ठहर गया है
और बग़ैर हमारी भाषा जाने
हमारे अहाते-भर के बच्चों के साथ
लहर गया है न थमनेवाले
गीत की कड़ी की तरह
या यह खिड़की चमक रहे हैं जिसके काँच
शाम को सुबह से भी ज़्यादा
या मेरे दोस्त सत्यनारायण का घुमावदार ढंग
बोलने का
या सोकर पूरा उठ जाने के पहले धीरे-धीरे
मेरी नातिन का आँखें खोलने का
या बरसात में भींगते हुए जवान
बछड़े का जाना सिर को एक विचित्र

से कोण में झुकाकर
या गरीब किसान की आँखों में की
वह चमक जो आती है
अपनी फ़सल बेच देकर भी
कोई पुराना रिन चुकाकर

प्यार की अपनी जगहें गिनाऊँ
तो गिनाता-गिनाता मर जाऊँ
क्योंकि ज़िन्दगी में और कुछ
बना भी तो नहीं है मुझसे
सिवा आदमियों चीज़ों और ख्यालों में रम जाने के
फिर भी सबसे ज़्यादा रमा हूँ जिनमें
वे शब्द हैं प्रकृति और
आदमी के बनाये हुए
धरती और आसमान में
समाये हुए शब्दों में
जो केवल ध्वनियाँ हैं अर्थहीन
मुझे शब्दों से भी ज़्यादा वे खींचती हैं
विलीन हो जाता है मेरा सब कुछ उनको सुनते-सुनते

निरर्थक होती हैं शायद ध्वनियाँ
मणियाँ किन्हीं प्रकारों के नागों के सिर में
होती हैं या नहीं कौन कहे
किन्तु ध्वनियाँ निरर्थक ही होती हैं
ऐसा पंडित भवानीप्रसाद मिश्र
तो कहने से रहे
क्योंकि उन्होंने मुझे स्वर तो स्वर
रंग तक दिखाये हैं
जैसे हम सात अँगुलियाँ दिखाकर

किसी को सात कुछ बातें समझायें
ऐसी ध्वनियों ने सात स्वर
सात रंग उनके हल्के गहरे मिश्रण
कितने कण हैं जिनमें
बिछा से दिये हैं मेरे सामने
सर्प की-सी मणियाँ
भैरव प्रकृति की ध्वनियाँ भी
मुझे मीठी लगती हैं और सुहावनी
तूफान का हरहराना
बाढ़ों का घरघराना
तड़कना बिजली का
धड़कना अपने ही डूबते से दिल का
घबराहट नहीं कौतूहल
करता है मुझ में उत्पन्न
कई बार लगता है मुझे कि
ध्वनियाँ और सुगंध
वर्ष हैं दीवार हैं दरवाजे हैं
जिनमें रहा जा सकता है
टिककर बैठा जा सकता है जिनसे
चाहे जहाँ निकल जा सकता हूँ
जिनमें से होता हुआ !

निरर्थक हों ध्वनियाँ तो भी
संभावनाएँ सार्थकता की
बहुत जगाती हैं ये मुझ में
शरण-भर दे पाते हैं सार्थक शब्द
मुक्त कर देती हैं ध्वनियाँ

युक्त कर देती हैं ये मुझे उनसे
जिनका मुझसे कुछ नहीं मिलता
क्या मिलता है मेरा पंछी से
वृक्ष से नदी से बादल से बाँस के वन से
किन्तु पूछे तो सही कोई
तल्लीन इन सबमें मेरे मन से
उत्तर शायद वह भी नहीं दे पायेगा
चकित-सा होकर देख लेगा
पूछनेवाले की ओर
और ख़्याल है मेरा
पूछनेवाला चकित उस दृष्टि से
लेना चाहे तो उतना ही ले पायेगा
जितना लिया है मेरे मन ने
पंछी से वृक्ष से बादल से नदी से वन से !
मगर मैं ध्वनियों का
उपयोग कर पाता हूँ अपने खो जाने तक ही
और अब व्याकुल हूँ इससे भी अलग
सजग रख सकने के इनके उपयोग के लिए !

शरण मैंने शुरू में भी शब्दों की नहीं ली थी
ध्वनि ही थी तब भी वह
जो खींच लाई थी मुझे शब्दों की नदी के किनारे
चालीस बरस से डालकर कुटिया
शब्दों की प्रवहमान धारा के किनारे बसा हूँ
लोग तो हँसे ही हैं मेरी इस मूर्खता पर
कभी-कभी मैं भी हँसा हूँ
किन्तु देखी हैं मैंने
बैठे-बैठे अपनी कुटिया के द्वारे से भी
शब्दों की तरंगें

वर्णों की छटा
घूमती चक्कर खाती नावें
पानी की बूँदों ही नहीं धारा का
गिरना आसमान से पानी की धारा पर
देखे हैं मैंने बाढ़ों में पड़े पेड़
एक साथ बहते पेड़ों पर
सहारा लिये साँप और आदमी
और तब एकाएक चमका है यह सत्य
कि बेशक साँप और आदमी
आफ़त में एक हैं
मौत की गोद में सब बच्चे हैं
चुप या किलकते हुए या रोते हुए ज़ोर-ज़ोर से
आधी रात को खुल गई है कभी नींद
किनारे पर के शोर से
कोई आओ, बचाओ
और दौड़ा हूँ !

शब्दों की जिस नदी को
चुनने का संयोग मिला है
वह मेरे भाग्य से नर्मदा है
कलकल जिसकी किसी निदाघ में
कहीं नहीं चुकती
रुकती नहीं है यह
अमर कंटक से लेकर सागर तक
ऊँचे पहाड़ों या फैले मैदानों के रोके
ध्वनियों के झोंके जिसके
सन्नाटे का मज़ा गहरा कर देते हैं
शाम के झुट-पुटे में
भर देती है कभी साल में दो-तीन बार

आसपास मीलों तक के मैदान
अपनी तेज़ी और तबाही से
कई बार रंग देती है खुशियाँ सिपाही से
डुबाकर बारातों से भरी नावें
भरवा देती है संक्रांति और एकादशी
और पूर्णिमा पर मेला
अकेला कर देती है सख्त दोपहर में
कभी वट के वृक्ष को ऐसा
कि उसकी छाया में आ बैठनेवाला
न कहीं ग्वाला दिखता है न गायें
एकाध बार तो किनारे बदल दिये हैं इसने
लगी बहती है मेरी कुटिया से जब से बसा हूँ
पहले भी सुना है ऐसी ही बहती थी
एक साल छोड़कर यह किनारा
उस किनारे से बहने लगी थी
इस तरफ़ छोड़ दी थी दूर तक रेत
और उथली हो गई थी
उस तरफ़ एकदम तट से लगकर गहरी
अब फिर लौट आई हैं महारानी
इसी तरफ़, बहने हैं लगी-लगी ऊँचे सीधे-तट को
काटते हुए बरस-दर-बरस
हल्के गंभीर लगभग चुपचाप तक
चरणों की आहटें
मुझ तक पहुँचाती रहती है जैसे
गहरी से गहरी नींद में भी !
मगर मैं इसकी ध्वनियों का उपयोग
अपने खो जाने तक ही कर पाता हूँ
और चाहता हूँ अब
कि उसकी लहरों नौकाओं पतवारों

मल्लाहों, उछलती-गिरती मछलियों की छपाछप
उसके किनारे के पंछियों वृक्षों
और सब कुछ को
व्यक्त करनेवाली ध्वनियों के अर्थ
खुलें मुझ पर साधक के मन में खुलनेवाले
मंत्रों की तरह
धुलें उनसे मेरे भीतर से भीतर के मैल
क्योंकि मुझे नहीं लगता
नर्मदा के किनारे कुटिया डालने का संयोग
दिया गया था मुझे
केवल शीत आतप वर्षा से बचने के लिए
मुझे तो दिया गया है वह
कई बार अपने ढंग से,
शीत आतप और वर्षा को रचने के लिए
और शायद इसलिए भी
कि रचते-रचते कभी अपने मन की रितुएं
लीन हो जाऊँ निर्वात अपने ही प्राण में ऐसा
कि दिए जलें निष्कंप अर्थों के अवधान में
उतरें रूप और अरूप, नाद और अनहद
पाऊँ अगर होता है कहीं कोई परमपद
ध्वनियों के द्वारा खोले गये
अग्नि-ज्योतिवंत पल के
किसी उत्तरायण में !

अबोध में अपने डाल ली थी
यहाँ मैंने झोंपड़ी
मगर अब रहते-रहते इसके किनारे
जागने लगी है इच्छा
कि बोध का स्पर्श हो

उत्कर्ष दे सारी ध्वनियों के अर्थों का
मुझे मेरे शब्दों की रेवा
उतरें सुबह शाम दोपहर
रात के सारे पहरों में
मन के कटते हुए तट पर खेवा
सूरज और चंदा और तारिकाओं के इतने
कि झोंपड़ी से निकल कर अब लगा रहूँ
जहाँ तक बने रात दिन
इन्हें समेटने और भेजने में
हर अप्रकाश की तरफ़ !

चूर हो जाऊँ जब थककर
जा लेटूँ ज़रा ताज़ा होने तक कुटिया में
या वहीं कहीं स्वर झरनेवाली
धारा के किनारे की रेत पर
और फिर से जुट जाऊँ उठकर समेटने में
रश्मियाँ दिन की और रात की वैसे
सूरज समेटता है जैसे उन्हें जाते-जाते
बचे जो नहीं हैं मेरे पास अब
कहने लायक़ दिन कहने लायक़ रातें
रोज़ मिलता है अब मुझे एक आमंत्रण-सा
कि बहुत होते हैं चालीस बरस
सरस ऐसे शब्दों की नदी के किनारे पर रहने के
शब्दों की ध्वनियाँ धरके सिरहाने
सोये नहीं रह सकते तुम अब और
आम के मौर के मुकुट पहने-पहने
धारा के किनारे बैठे रहने
या अपनी मर्ज़ी की दूरी तक उसमें
बहने के दिन अनन्त नहीं होते

जिनसे बोलने लगती हैं ध्वनियां
वे तुम्हारी तरह नहीं सोते फिर दिन को या रात को
लो, गाँठ में बाँधो इस बात को
यह लगभग वचन है मेरा दिया हुआ
नया दौर शुरू करो
सजग करो ध्वनियों के प्राणदायी अर्थ
अलग करो जीवन्त स्वरों को
ग्रीष्म-रितु की थकी-सी शाम की बांसुरी से
धुरी से हट जायेगी धरती
अगर अब भी तुमने अखिल से
छिटककर रहने दिया अपने आपको
स्वरों के किनारे चालीस बरस बसने के
अपने वरदान को फलित करो
चलित करो ध्वयर्थों को उत्कंठ होकर
सोकर मत काटो अब रातें कुटिया में
आश्रय थी वह अब तक
अब सिद्ध होगी दु:खालय
यदि तुमने आत्मसात अपनी
अजस्र इन ध्वनियों से सज्जित
न किया उसे
स्फटिक पर पड़ी परछाई की तरह
जागो तुम ध्वनि की इस धारा पर अब
और सब छोड़ो
हल्का-सा भी कोई तनाव या खिंचाव या दबाव
असम्यक्ता का अब भी तुम्हारे मन पर बना रहा
तो क्या सुना तुमने चालीस बरसों तक
स्वरों से ध्वनियों से शब्दों से
चालीस बरसों तक स्वरों ने ध्वनियों ने
शब्दों ने तुमने क्या कहा ?

शब्दों के स्वरों के ध्वनियों के चढ़ाव उतार
ले जायें अब तुम्हारी तट-भर पर फैली
भावना के कण
घेरकर जैसे चक्रवात में ऊपर
पानी तुम्हारी वाणी का
खिंचकर आकाश तक फिर बरसे वह
भूपर
जल्दी करो समय बहुत नहीं बचा है
मगर इसका यह अर्थ नहीं है
कि अल्प इस समय के
भूमा हो जाने का अभय
मैंने रचा नहीं है तुम्हारे लिए
अभय तो शब्द और स्वर और ध्वनि का
पहला देय है
किन्तु अतीत करके अल्प और भूमा को भी
जो गेय भी है
अपनी आवाज़ अब उस तक उठाओ
कुटिया में या बैठकर किनारे पर या नाव में नहीं
अब धारा के बीच में स्थिर होकर गाओ !

एक घनी छाया शांतिदायिनी आ रही है
सुख यह है कि वह जिस ओर
तुम्हें ले जा रही है
उस ओर खुद उसकी भी निगाह नहीं है
काले घने स्वर की नदी है यह
इसकी कहीं थाह नहीं है
अब टिकेंगे नहीं कहीं तुम्हारे पैर
तैरना-भर अब तुम्हारे हाथ में है
सहारा चालीस बरसों की ध्वनि का तुम्हारे साथ में है

नये-नये अर्थों के भंवर
डुलायेंगे तुम पर जैसे चंवर
खा जाओगे कभी तुम उनमें डुबकियां
सो जाने पर भी जैसे बच्चा
लेता रहता है सुबकियाँ बहुत रो लेने पर
और आँखें खुलती हैं जब तो
प्रसन्न खुलती हैं
नये अर्थों, नये अभिप्रायों की डुबकियों में
प्रज्ञा कुछ वैसी ही घुलती है !
शरद की शीत की ठिठरती हड्डियाँ थीं
अब तक तुम्हारे शब्द
गुज़री जिन पर से हवा जो बजी
उनमें विकलता ठीक अर्थ ठीक अभिप्राय नहीं बजे
सच पूछो तो तुम अब तक
न अपनी सादी झोंपड़ी में सजे
न उसके बाहर
इससे तो यही अच्छा होता
रहते किसी दूसरे के घर
चुकाते रहकर किराया
गुँजा जो नहीं पाये तुम
झोंपड़ी में और उसके बाहर
दिशाओं तक
अमर कंटकों को सागर में गला देनेवाले स्वर !

देकर समूचापन अपना
डाली थी मैंने यह झोंपड़ी
बहती एक स्रोतस्विनी के किनारे
उतरता रहता है जहाँ खेवा आठ पहर

लहर-लहर ध्वनियों का किरनों का मगर
अंधकार जो उतरता है इसके किनारे
सो भी अलग है
उजाला घुला है जैसे उसकी रगों में
डगों में पड़कर जिसकी विषय कुछ नहीं रहता
यह ऐसा एक तम है
जिसमें चलो तो लगता है धरती सम है
परछाइयां इसमें पूरी गति से नाचती हैं
रूप नहीं छूते जिनके छूती हैं गतियां
अतियां स्पर्शों की रूपों को
अधिक कर देती हैं साकारों से भी
मिलना हो जाता है इस तरह आकारों से भी अनायास
खिलना फूलों का अंधेरे में
कितना व्यापक हो जाता है
आभास दे देते हैं अलग-अलग दिशाओं से
आनेवाले झोंके अलग-अलग गंधों के
हवा मकरंदों से लदी
अंधेरे में लगती है दूसरी एक नदी
यहाँ के दिनों का यहाँ की रातों से
जो अन्तर है अनिर्वचनीय है
मुझे सदा जाते लगते हैं दिन
आती लगती हैं रातें !
शब्दों की प्रवहमान धारा के किनारे बसा हूँ
मैं भी कभी-कभी अपनी इस मूर्खता पर हँसा हूँ
मगर मेरे पास चुनाव की गुँजाइश नहीं थी
बीस साल स्रोतस्विनी से दूर-दूर घूम चुका था
गगनस्पर्शी अट्टालिकाओं के छत से
गगन को लगभग चूम चुका था

और देखा मैंने यह था
कि सिवा बहती नदी के किनारे
मैं और कहीं स्वाभाविक नहीं रह पाता
डींगें हाँकने लगता हूँ या चुप हो रहता हूँ
कभी किसी प्रसंग में ठीक बात भी कहता हूँ
तो लगता था या तो प्रसंग ठीक नहीं है
या बात में प्रसंग के अतिरिक्त कुछ और
आ जुड़ा है जैसे आम के पेड़ से
कबूतर उड़ा है या आ बैठा है
छत की मुंडेर पर कोयल
सबसे बुरी बात ज्यादातर जगहें
मुझे ऊघाड़ी लगती थीं
दिखाती-सी जान पड़ती थीं सब अपने-अपने को
सबका ज़ोर इसी पर था
कि हमको देखो और क़ीमत चुकाओ
हम अपनी क़ीमत पाने के ख़्याल से
खुले खड़े हैं और फिर भी
दूध में धुले खड़े हैं
यह हमारी दूसरी खूबी है !

पार्थिव का अपार्थिव से वहाँ पाणिग्रहण
कभी नहीं दिखता था
लिखने को तो तब भी मैं
पहले के सुन स्वर शब्द और ध्वनियाँ ही
लिखता था
मगर प्रतीति बनी रहती थी
कि उघाड़े वातावरण का इन शब्दों पर आवरण है प्रभाव है
और वास्तव में निरावरण हैं वे

खुले भी हैं तो अर्थ या अभिप्राय के शील में नहीं
झूठे किसी विचार के दंभ में
रहस्य जैसे उन शब्दों की साँस में नहीं था
व्यक्तित्व जो नहीं था उनका अपना
आदमी और औरत और बच्चा
और पेड़ और पौधे और जानवर
रहस्य नहीं हैं अगर
शत प्रतिशत खुले हैं
तो वे चाहे जितने दूध के धुले हैं
रहस्य नहीं हैं और कला नहीं हैं
और जो कला नहीं है रहस्य नहीं है
वह प्राणों को नहीं छूता
ऊपर-ऊपर से बह जाता है
अपनेपन का सच्चा कोई भी अंश
देने से रह जाता है

लगभग मन की बातें लिखकर भी मन तब
इसीलिए आश्वस्त नहीं होता था
अस्त नहीं होता था सूरज रात को भी
उन चीज़ों पर से
जो मेरे बहुत पास आकर आपने को दिखा जाती थी
सपने तक अपने ही कराना चाहती थीं वे साकार
हर बार भान होता था
मेरे संकोची शब्दों के मारे मन को हार का

चुनाव की गुँजाइश नहीं थी;
तट होने को दो थे
मगर उस पार का तट एक तो उस पार का था

दूसरे धारा उससे दूर थी
तट और धारा के बीच में
रेत थी फैली हुई कोई आधा मील तक
स्पंदन कहाँ होता रेत में
खेत में होता है, वन में होता है, धारा में होता है
इसलिए डालकर बैठ सकता था मैं वहाँ कुटिया
रेत के किनारे कुटिया बनाने में तुक नहीं है
और तब से अब तक कुछ हुआ या नहीं हुआ
धारा के किनारे आ जाने पर
आदमी ने औरत ने बच्चे ने
फूल ने पौधे ने जानवर ने
सबने मुझे कभी कम तो कभी ज़्यादा
छुआ एकदम निरावण
वे कभी नहीं आये मेरे सामने
सदा उनकी आँखों में रहस्य था
और रहस्य स्नेहिल तो होता ही है
और जितना खोलना चाहो तुम
रहस्य को रहस्य उतना बढ़ता है
पर्वतारोही की तरह
आँखें चार रहती हैं जिसकी रहस्य से
वह हर क़दम पर ऊपर चढ़ता है
मगर सफल नहीं होता
असफलता रहस्य की सीपी का मोती है
तब से आज तक
रहस्य की जोती है मेरे चारों तरफ
मगर हरफ़ मेरा नहीं हो पा रहा है
रहस्य;
मेरे शब्द पहले खुले-खुले से थे

अब हैं ढंके-ढंके से
तीसरी जो अवस्था है रहस्य की
चाहता हूँ वे अब उसे लेकर
मेरे भीतर उतरें
बचे नहीं अब
मेरे पास कहने लायक दिन
कहने लायक रातें इसलिए
कुटिया में केवल अब शीत आतप वर्षा से
बचूँ नहीं
रचूँ अपने आस-पास के रहस्यों को
समेटकर नयी-नयी किरनें
खुलें मुझ पर रितुएं
साधक के मन में खुलनेवाले
मंत्रों के रहस्यों की तरह
धुलें उनसे मेरे भीतर से भीतर के मैल
जो असल में और कुछ नहीं हैं
मोटी-मोटी जानकारियाँ हैं
जिन्हें मैंने सहेजा था
समझकर उपलब्धियाँ
भूलकर उन्हें समेटूँ अब
रहस्यमय रश्मियाँ दिन की और रात की वैसे
सूरज समेटता है उन्हें जैसे जाते-जाते
गाते-गाते लीन हो जाऊँ
निर्वात अपने ही प्राण में
अवधान में निष्कंप रहस्यों के दिये जलें
उतरें रूप और अरूप
नाद और अनहद
होता है अगर कोई परमपद

तो पाऊँ उसे
ध्वनियों के द्वारा खोले गये
अग्नि ज्योतिवंत पल के किसी उत्तरायण में !
आशा के साथ दुःखों को सहूँ
जब तक बने रहस्यों को सोचूँ रहस्यों को कहूँ
किनारों की बातों को
नभ के वज्रपातों को
तन्मयता से
अपनी ही धड़कन की तरह
अपना मानूँ
वर्षों को दीवारों को दरवाज़ों को
सपना मानूँ
और फिर भी रहूँ उनमें
टिककर बैठूँ उनसे
और निकल जाऊँ चाहे जहाँ
उनमें से होता हुआ !
कह दूँ किसी भी संदर्भ में चाँद
तो कन के भीतर की सारी चाँदनी
बाहर छिटके
लिख दूँ किसी पंक्ति में वृक्ष
तो पूरी की पूरी सतह हरहराये
या मेरी कविता के वन का वातावरण
वातहीन क्षण की तरह
स्तब्ध हो जाये
और जाऊँ तब हल्का और अबोध
जैसे गया था विन्ध्या के वनों से होकर
माँ की गोद में बैठा हुआ
या फिर पहुँचूँ मरण के शिखरों तक

भरकर सूर्योदय संदेहों की दीठ में
प्राणों में अनुभव हो कि पल पूजा का
पास आता जा रहा है
रहस्य-शिशु सारे बैठे हैं गोद में !

पुरुष प्रधान

मैं अपने को
अपने होने के पहले से जानता था

मैं अनादिकाल से
अपने को अनादि और
अनन्त मानता था

जानता था कि
मछली और कछुआ और वाराह
सब मेरी राह में आयेंगे

कोकिल और चातक और मयूर
सब मेरे आगे-आगे गायेंगे

इसे जानकर मैं
कुछ करोड़ बरसों तक
नहीं बोला

और कुछ करोड़ बरसों तक
होने नहीं दिया मैंने
वैसा दिन जैसे समय को आज

तुम दिन कहते हो

या बनने नहीं दिया
वैसा कोई काल
जिसमें अब तुम रहते हो

मेरी छाया पड़ने के पहले
धरती पर
मैंने अपनी छाया
सूरज पर डाली थी
मसलहत तो मेरे हर काम में है
इसमें भी थी

मैं धरती पर प्रकाश को
सफेद चाहता था, लाल नहीं

इसी तरह मैं समय को
क्षण और दिन और मास और
बरस चाहता था
केवल काल नहीं

मैं तमाम चीज़ें बना
तना मैं काले आसमान में
बहुत ऊँचे पर बना एक काली हवा

बना मैं अक्ल का जलाशय
और खून का झरना
याने होना रहना और मरना

मैं वना और ये सव मैंने बनाये

कितनी चीज़ों के जन्मोत्सव
कितनी चीज़ों के
मरण-त्योहार मैंने मनाये

और अव करोड़ों बरसों में
हालत ऐसी कर दी है
कि वैठकर प्रकाश से भी अधिक
गतिवान गरुड़ों और
इंद्रधनुषी बादलों पर
लोक-लोकान्तर पार करता हूँ

और फिर रची है मैंने जो
सुँदरता उसी के ऊपर
भयानक आग्नेय अस्त्रों की
मार करता हूँ

यह सब इसीलिए संभव है
कि मैं अपने को
अपने होने के पहले से
जानता था

अनादिकाल से मैं अपने को
अनादि और अनन्त
मानता था

मैं जानता था कि

न 'होना' कुछ है
न 'न-होना'
न पाना कुछ है न खोना

मौत को मैंने
ज़िंदगी से छुटकारा तक कहाँ है

तब फिर पृथ्वी पर आकाश से
अग्नि बरसा देना
बुरा किस अर्थ में बच रहा है

चीज़ें मिट जाती हैं
और प्राणवानों की पीढ़ियाँ

मगर बनाती हैं वे
मिटकर ऐसी सीढ़ियाँ
जीवन जिनसे होकर
कई बार ऊपर चढ़ा है
कई बार नीचे फिसला है
कई बार पीछे हटा है
कई बार आगे बढ़ा है

जो मेरी अग्नि-वर्षा के बाद
बच जायेंगे
वे फिर नई बस्तियाँ बनायेंगे
और उन्हें फिर नष्ट करने वाले
उपकरण भी

क्योंकि चलता रहना चाहिए
मेरे ज्ञान के कारण-स्वरूप
जीवन भी मरण भी

आग तो वैसे भी
तीनों लोकों में लगी है
और तेज़ करने के लिए आग को
नयी एक आँधी भी जगी है

मगर इससे रुकता क्या है
पूरी तरह इस सबसे चुकता क्या है

जैसा कल था लगभग वैसा ही है
सब कुछ आज भी

बाजार चल रहे हैं और
चक्राकार राज-काज भी

मूल स्वभाव किसी भी बात का
हमने अपने हाथ में रखा है
धरती की माटी अगर
पलीत होती जा रही है
पानी की छाती अगर
भयभीत होती जा रही है
या साफ़-सुथरी हवा
ज़्यादा ज़हरीली मौत की किसी घाटी से

तो यह सब हमारा फैलाया हुआ
जाल है

जानते हैं हम जहाँ जैसा हाल है
कोई हमें वह सब न बताये
क्योंकि मैंने धरती से भी पहले
अपनी छाया
सूरज पर डाली थी

और अब जब चाहूँगा
कोई नयी दुनिया रच दूँगा

उजड़ जायेंगी बस्तियाँ धरती की
तो चन्द्रमा को लूँगा
और वहाँ एक नया
विकास-क्रम रचूँगा

पहले धरती पर
क्या-क्या नहीं आया
तब कहीं आया आदमी

अब चन्द्रमा पर
पहले आदमी होगा
फिर होंगी और और-और चीज़ें
मैंने कहा न
मैं अपने को
अपने होने के पहले से
जानता था

और जानता था कब क्या
करने वाला हूँ

किस तरह पैदा होने वाला हूँ
किस तरह मरने वाला हूँ

और मारने वाला भी

चीज़ों को कब किस तरह
मिटाने वाला हूँ
और सँवारने वाला भी
बात ऐसी है कि मैंने तय कुछ
नहीं किया था

मगर जानता था
कि सच को शुरू किया जा सकता है
किसी भी छोर से

जीवन शाम से भी शुरू किया जा सकता है
और शुरू किया जा सकता है
भोर से

चाहो तो पहले अँधकार का
पिंड बना लो

और घनाते चले जाओ उसे
तो वह प्रकाश में
बदल जायेगा
और चाहो तो ले लो हाथ में
एक किरन

और फैलाते जाओ उसे
तो चकाचौंध के मारे
आँखों के आगे
अँधेरा आ जायेगा

मौत से शुरू करके
जीवन तक

और जीवन से शुरू करके
मौत तक

वृक्ष से बीज तक
बीज से वृक्ष तक
कोई भी प्रक्रिया चुनी जा सकती है

मैंने प्रक्रिया मौत से जीवन की चुनी

कुछ नहीं में से
सब कुछ पैदा किया

और खुद तो आदि से
अन्त तक जिया ही जिया
और जीता चले जाने वाला हूँ

अभी शुभ्र उजाला हूँ तो
अभी अँधकर काला हूँ

जीवन हर हाल में
ज्वलंत है

अंत नहीं है एक बार जो
शुरू हो गया है उसका
घेरे में सब घूमता जायेगा

मृत्यु जीवन को चूमेगी
जीवन मृत्यु को

चूमता जायेगा
और किसी दिन सब प्रकाश हो जायेगा

और हो जायेगा
विस्तार तरलता का छन्द का
कोमलता और सुगन्ध का

कुछ कठोर नहीं रहेगा
और उस अर्थ में काला भी

नाम शायद नहीं रहेंगे
रूप ही रूप हो जायेंगे सब

किसी को किसी सुबह के लिए
नहीं रुकना पड़ेगा
मस्तकों की
मूर्तियों के आगे नहीं झुकना पड़ेगा
सब में एक समझ आ जायेगी
सहवास की और योग की

और मैं तब बीच से
हट जाऊँगा

सूरज का ढाक रखने वाले
बादल की तरह फट जाऊँगा
तब तुम अपने आगे
प्रकट हो जाओगे
और विलीन हो जाऊँगा मैं

हीन कोई नहीं बचेगा
उस दुनिया में
जिसमें और जीवों से पहले
आदमी आयेगा

तब वह अपने को
जीवों से नहीं बचायेगा

उन्हें सँवारेगा प्रकृति की तरह
क्योंकि अभी तक
शुरू सब प्रकृति से किया गया था
अब पुरुष से शुरू होगा

इस प्रारम्भ को मैंने
हाथ में ले लिया है
और उदास न हो जाये प्रकृति
इसीलिए उसे साथ में ले लिया है

चार कौए उर्फ चार हौए

बहुत नहीं थे सिर्फ चार कौए थे काले
उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़ने वाले

उनके ढंग से उड़ें, रुकें, खायें और गायें
वे जिसको त्योहार कहें सब उसे मनायें।

कभी-कभी जादू हो जाता है दुनिया में
दुनिया-भर के गुण दिखते हैं औगुनिया में
ये औगुनिए चार बड़े सरताज हो गये
इनके नौकर चील, गरुड़ और बाज हो गये।

हंस मोर चातक गौरैयें किस गिनती में
हाथ बांधकर खड़े हो गए सब विनती में
हुक्म हुआ, चातक पंछी रट नहीं लगायें
पिऊ-पिऊ को छोड़ें कौए-कौए गायें।

बीस तरह के काम दे दिए गौरैयों को
खाना-पीना मौज उड़ाना छुट भैयों को

कौओं की ऐसी बन आयी पांचों घी में
बड़े-बड़े मनसूबे आये उनके जी में
उड़ने तक के नियम बदल कर ऐसे ढाले
उड़ने वाले सिर्फ रह गये बैठे ठाले।

आगे क्या कुछ हुआ सुनाना बहुत कठिन है
यह दिन कवि का नहीं चार कौओं का दिन है
उत्सुकता जग जाये तो मेरे घर आ जाना
लंबा किस्सा थोड़े में किस तरह सुनाना!

काल पुरुष

इच्छा हमारी स्पष्ट है

हम लगभग बिना बोले
अपनी बात कह रहे हैं
हम आपके इरादे
आपके काम
फिलहाल इसलिए सह रहे हैं
कि सूरज दिन भर तपकर
शाम को डूब जाता है
हर अत्याचारी
किसी न किसी क्षण ऊब जाता है
अपने अत्याचारों से

इसलिए हम लगभग बिना बोले
अपनी बात कह रहे हैं हत्यारों से
और हत्यारे हमारे सुन भी रहे हैं
हमारी बात
कांप रही है उसकी छाती
जैसे खुले में रखे हुए दीपक की बाती
कांपती है हवा न चले तो भी
भांपती है अत्याचारियों की पूरी पंक्ति
शांति की सतह से नीचे
हो रही हलचल
और तेज़ कर रही है घबराकर
हर बार दमन का चक्का

हमें हक्का-बक्का होने की ज़रूरत नहीं है कि
क्या हो रहा है यह
हमारे शांत बने रहने के बावजूद
परेशान किये हैं उन्हें
इतिहास के पन्ने
वे जानते हैं कि
सो नहीं रहा है काल-पुरुष
तुम बोलो चाहे मत बोलो
तुम्हारी इच्छा स्पष्ट है
साठ करोड़ आदमियों की इच्छा में
बल होता है
वे जो चाहते हैं वह अगर आज नहीं
कल होता है ।

मुद्रक : मॉडर्न प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

भवानीप्रसाद मिश्र

- जन्म : २९ मार्च, १९१३, टिगरिया, होशंगाबाद, मध्यप्रदेश
- जीवन स्वयं एक पाठशाला खोलकर शुरू किया
- भारत छोड़ो आंदोलन में दो वर्ष आठ महीने
  आठ दिन कारावास
- '४६ से '५० तक महिलाश्रम, वर्धा में शिक्षक
- '५० से '५१ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा में
- '५२ से '५५ हैदराबाद में 'कल्पना' मासिक का संपादन
- '५७ से '५८ आकाशवाणी बंबई और दिल्ली में
  हिंदी के कार्यक्रमों का संचालन
- '५८ से '७२ संपूर्ण गांधी वाङ्‌मय का संपादन
- सम्प्रति : गांधी शांति प्रतिष्ठान, गांधी स्मारक
  निधि और सर्व सेवा संघ से सम्बद्ध

कृतियाँ

गीत-फरोश
चकित है दुःख
अंधेरी कविताएँ
गांधी पंचशती
बुनी हुई रस्सी
खुशबू के शिलालेख
त्रिकाल संध्या